Sethia Jain Library
BIKANER
Serial no. ३८८
Index no. २८९

ॐ

श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित—

पंचास्तिकाय टीका द्वितीय खण्ड

अर्थात्

श्री नवपदार्थदर्पण।

टीकाकार—

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर-
ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी,

समयसार, नियमसार, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंके अनुवादक
व मूलधर्म, ध्यानधर्म, भावीतीर्थंकर आदि के रचयिता
व सं० सम्पादक "जैनमित्र" व "वीर"-सूरत।

लखनऊनिवासी लाला जिनेश्वरदासजी जैन, सुपुत्र
स्व० लाला शिवेश्वरनाथजीकी ओरसे, अपने
पिताके स्मरणार्थ "जैनमित्र" के ८ वें
वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति [illegible] प्रति १०००

मूल्य—रु० १-६-०

प्रकाशक–
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक 'जैनमित्र' व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी–सूरत।

मुद्रक–
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तामवाड़ाकी पोल–सूरत।

भूमिका।

श्री जिनेन्द्रके चरणकमलके प्रतापसे इस पंचास्तिकाय ग्रंथकी संस्कृत वृत्ति जयसेनाचार्यकी देशभाषाकी पूर्णता इस ग्रन्थमें होगई है क्योंकि इस द्वितीय भागमें मुख्यतासे नव पदार्थोंका स्वरूप है। इसलिये इसका नाम नवपदार्थदर्पण रक्खा गया है। जो आत्मिक आनन्दके भोगी हैं व शांतिके उपासक हैं उन्हें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य परमयोगीके सर्व ही ग्रन्थोंको पुनः पुनः पढ़ना चाहिये और मनन करना चाहिये। यह आचार्य विक्रम संवत ४९में होगए हैं। मैसूरके शिलालेखोंसे प्रगट है कि इनमें आकाशमें चलनेकी शक्ति थी। इनके वचन परम अनुपम तत्त्वज्ञानरूपी अमृतको पिलानेवाले हैं।

हम अपनेको बहुत कृतार्थ मानते हैं जो हमारे द्वारा परम अनुभवी आचार्यश्री कृत नीचे लिखे चार ग्रन्थोंकी संस्कृत वृत्तिकी देशभाषा होगई है जिनकी भाषा अबतक नहीं हुई थी---

१–श्री नियमसार, संस्कृत वृत्ति पद्मप्रभमलधारी कृत

२–श्री समयसार ,, जयसेनाचार्य ,,

३–श्री प्रवचनसार ,, ,, ,,

भाषा तीन भागोंमें ज्ञान, ज्ञेय तथा चारित्रतत्त्वदीपिका।

४–श्री पंचास्तिकाय दो भागोंमें–पंचास्तिकायदर्पण = नवपदार्थदर्पण।

संक्षिप्त जीवनचरित्र-

श्रीमान् स्वर्गीय लाला विशेश्वरनाथजी जैन रईस-लखनऊ।

श्रीमान् लाला विशेश्वरनाथजी लखनऊमें एक धर्मात्मा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे।

आपका जन्म विक्रम सं० १९१६में हुआ था। आपके पिता लाला भैरोंप्रसादजी मित्तलगोत्र अग्रवाल दि० जैन अच्छी स्थितिके गृहस्थ थे। ला० भैरोंप्रसादजीके ४ पुत्र और २ पुत्री थीं सबसे बड़े पुत्र ला० लछीमलजी, उनसे छोटे ला० बेनीमलजी, उनसे छोटे ला० प्रभुदयालजी व सबसे छोटे आप लाला विशेश्वरनाथजी थे।

आपके बड़े भाई ला० लछीमलजी [illegible] के नवाब वाजिदअलीशाहके यहां (कलकत्ता) मशियां बुरजमें सामान बेचते थे। जिस वक्तसे नवाब साहब लखनऊ छोड़कर मटियाबुरजमें रहने लगे थे, तबसे उनकी भी अपनी दूकान वहां ले आये। ला० बेनीमलजी, ला० प्रभुदयालजी और ला० विशेश्वरनाथ चिकन तथा बनारसीका काम अलग२ करते थे। आप आजमगढ़से गुलबदनके जरी थान वगैरा लाकर लखनऊमें बेचते थे। लखनऊसे कपड़ेपर चिकनका काम बनवाकर कलकत्ता वगैरहमें बेचते थे। आप बाल अवस्थासे ही बहुत उद्योगी थे। आपकी धर्मकी तरफ भी विशेष रुचि थी। आपके बड़े भाई लाला लछीमलजीके २ पुत्र और २ पुत्रियां थीं। बड़े पुत्र श्रीमान् स्वर्गीय लाला दामोदरदासजी थे जिनका

श्री० स्व० लाला विशेश्वरनाथजी जैन रईस-लखनऊ।

जन्म-सं० १९१६ स्वर्गवास-सं० १९८२

श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी जैन.
सुपुत्र श्री० लाला विशेश्वरनाथजी—लखनऊ।

लाला जिनेश्वरदासजीने ही इस ग्रन्थ पंचास्तिकाय टीकाको अपने पूज्य पिता स्वर्गीय लाला विशेश्वरनाथजीकी स्मृतिमें जैनमित्रके ग्राहकोंको भेट किया है। लाला जिनेश्वरदासजीके २ सुपुत्र चिरंजीव मोतीचन्द्र व ताराचन्द्र हैं और २ पुत्रियां हैं। लाला विशेश्वरनाथजी व लाला दामोदरदासजी व लाला दुर्गाप्रशादजीका सब कारोबार एकहीमें बहुत वर्षोंसे चल रहा है।

जिस वक्त लखनऊके नवाब वाजिदअली साहबका स्वर्गवास होगया था उस वक्त आपके बड़े भाई लाला लछीमलजीको बहुत नुकसान उठाना पड़ा था। लाला लछीमलजी दूकान उठाकर लखनऊ आनेकी तय्यारी कररहे थे। इत्तिफाकसे लाला विशेश्वरनाथजी चिकनका माल बेचने कलकत्ता पहुंच गये। आपने वहांकी हालत देखकर अपने बड़े भाई लाला लछीमलजीसे कहा कि आप लखनऊ न जाइये। यहां कलकत्तामें ही चिकनके मालकी दूकानकर लीजिये। हम आप यहां रहेंगे और लड़के लखनऊसे चिकनका माल बनवाकर भेजा करेंगे। ला० लछीमलजीने आपकी बात मान ली। आपको कलकत्तेमें ही छोड़ा और आप लखनऊ चले आए और अपने बड़े पुत्र श्रीमान् ला० दामोदरदासजीसे कहा कि अब तुमको पढ़ना छोड़ना होगा और यहां अपने दोनों भाइयोंके नामसे दुकान करनी होगी। हम कलकत्तेमें दूकान करेंगे तुम यहांसे माल बनवाकर भेजा करना। ला० दामोदरदासजीने अपने पिताकी आज्ञा मानकर पढ़ना छोड़ दिया और लखनऊमें दामोदरदास दुर्गाप्रसादके नामसे दूकान खोल दी। ला० लछीमलजीने कलकत्ते जाकर तुलापट्टी बाजारमें एक दूकान किराये पर लेकर विशेश्वरनाथ दामो-

दरदामके नामसे दूकान खोल दी। आपकी कलकत्तेवाली दूकान व लखनउवाली दूकानने खूब तरक्की की। लखनऊकी दूकानसे निकलका माल कलकत्तेकी दूकानके अलावा और भी बहुत दूर२ बड़े२ शहरों (बंबई, अहमदाबाद, दिल्ली आदि स्थानों)में जाने लगा। आपके मनीजे लाला दामोदरदासजी बहुत बुद्धिमान व परोपकारी थे। लखनऊ जैन सभाके मन्त्रित्वका कार्य २३ वर्षतक लाला दामोदरदासजीने बहुत उत्तम रीतिसे किया था। लखनऊमें जो कुछ धर्मकी रौनक है वह लाला दामोदरदासजीके ही गाढ़ प्रयत्नका फल है। लाला दामोदरदासजी कचहरीके कार्योंमें भी बड़े चतुर थे, वकीलोंकी भी आपकी सम्मतिसे लाभ पहुंचता था। श्वेतांबर जैन समाजके साथ जो श्री सम्मेदशिखरजी पूजाका मुकद्दमा चला था उसमें लाला दामोदरदासजीकी प्रामाणिक गवाहीका हाईकोर्टके जजोंपर भी असर पड़ा था। आप धर्मके कामोंमें हरतरहसे मुस्तैद रहते थे। ला० दामोदरदासजीने ही ला० विनेश्वरदासजीको व्यापारका कार्य सिखाकर बहुत होशियार कर दिया था। ला० विशेश्वरनाथजीने ३ मरतबा श्री सम्मेदशिखरजीकी यात्रा की थी, और भी बहुतसे तीर्थोंकी आप यात्रा कर चुके थे। आपने अपनी १० वर्षकी उमरसे ही रात्रिमें पान पानी वगैरह कुल चीजोंका त्याग कर दिया था। आप हर अष्टमी, चतुर्दशीको एकाशना करते थे। आपने अपनी कोठी छापाबाजारमें एक मनोज्ञ चैत्यालय श्री चन्द्रप्रभु भगवानका बनवाया था उसमें रोजाना आप पूजन करते थे। आपको डाक्टरी दवाईका भी जन्मपर्यन्त त्याग था। बाजारकी कुल मिठाई व पूरी वगैरहका भी आपको त्याग था। इसके अलावा

कहा कि तुम लोग मोहके वश होकर मेरी प्रतिज्ञा भंग करना चाहते हो, मैं कभीकी बात नहीं मानूंगा। जब आप किसी तरह नहीं माने तब ला० बरातीलालजी, अजिताश्रमसे अपने मामा श्रीमान् जैन ब० मू० ब० दि० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको ले आये (उस साल ब्रह्मचारीजीने लखनऊमें चातुर्मास किया था) ब्र०जीके समझानेसे बहुत मुश्किलसे आपने दवाई व पानी ग्रहण किया था। आपके परिणाम अन्त समय तक बहुत उत्तम रहे। आपने अपने कुटुम्बीजनोंसे स्वर्गवास होनेके चार पांच महीने पहलेहीसे ममत्व त्याग दिया था।

अब हम पाठकोंको कुछ आपके सुपुत्र श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजीका परिचय करा देना उचित समझते हैं। श्रीमान् लाला जिनेश्वरदासजी योग्य हैं, आप कलकत्तावाली दुकानके अलावा लखनऊमें भी ९ दूकानें जो निम्न नामसे हैं उन सबका काम सम्हालनेमें योग देते हैं।

दामोदरदास दुर्गाप्रसाद, अहियागंज।

दामोदरदास जिनेश्वरदास, कोठीकपडा छापाबाजार।

जिनेश्वरदास गोटेवाले, विक्टुरियास्ट्रीट।

बरातीलाल जैन एण्ड कंपनी, अहियागंज।

बरातीलाल जैन कोठी बरतन, अमीनाबाद।

दूकानोंके अलावा लखनऊमें बहुतसी दूकानें व मकानात किरायेपर चलते हैं उनका भी प्रबंध रखते हैं। संवत १९८१ माघमासमें लखनऊमें श्री भा० व० दि० जैन परिषदके अधिवेश-

नके अवसरपर श्री जैनधर्मवर्धिनी सभा लखनऊके वार्षिक उत्स
वपर आप सभापति एक सालके वास्ते चुने गये हैं। विशाल मात्रा
आपने अपने सुपुत्र चिरंजीव मोतीचंदका विवाह जैनविधिसे बहु
धूमधामके साथ श्रीमान् लाला मुसेरालाल कागजीकी सुपुत्रीके सा
किया था। धर्मकी तरफ भी आपकी विशेष रुचि है। आप अपने
दोनोंके चैत्यालयमें सोनाना पूजन करते हैं। हम श्रीजीसे प्रार्थन
करते हैं कि आप चिरायु होकर हमेशा धर्म व जातिकी सेवा करते
रहें। आपने अपने पिता लाला त्रिलोकनाथजीकी स्मृतिमें इस
पंचास्तिकाय टीकाके द्वितीयभाग—नवपदार्थदर्पणको प्रकाशित कराक
ज्ञानदानका महोपयोगनीय कार्य किया है।

यह ग्रन्थ जैनमित्रके उन सब ग्राहकोंको भेटमें दिया जा
है जो वी० सं० २४९३में जैनमित्रके ग्राहक थे। आशा है अन्य
श्रीमान् भी ऐसे अपूर्व ज्ञानदानका अनुकरण करेंगे।

सूरत
वी० सं० [illegible], कार्तिक व ११
ई० स० [illegible]

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
प्रकाशक।

शुद्धयशुद्धि ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१३	६	जानदो	आनदो
१५	२	जल जाना	झट जाना
१६	१४	योग्य शक्ति	योग्य योगशक्ति
३१	५	वायु, रूप,	वायु रूप
४०	८	णडितम्	पडितम्
४१	९	और नो इंद्रिय	और कर्णेंद्रिय तथा नोइंद्रिय
४५	१२	मन सहित निर्देच	मन सहित
४८	९	य गतिके उदयसे किसी गतिमें रुका रहना होता है	
५१	१८	पालन	पल्टन
५२	१६	कोटिचर्न	कोटिशत
,	२१	मिट	मिट
५६	२३	काउस्स	काउस्स
६१	७	स्थितिका	स्थितिके
६५	१३	तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरके स्वामी है	
७८	७	आवस्थाए	अवस्थाएं
७५	५	अनुभव	अनुभय
,,	७	अनाम	आठाक
७७	३	पाई जाती है-	पाई जाती है तथा असंज्ञी पचेंद्रिके पीतलेश्या भी होती है
७९	१३	नोकषाय	नौ नोकषाय
८३	१४	इस	इन
९०	१२	१३८	१३५
,,	१४	१३८	१३५

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
९२	४	दान	ज्ञान
,,	६	जैसे	वैसे
१०६	२१	अशुभ	अशुद्ध
१०७	१	पदार्थ	पाप
,,	९	रूप	रूप भावको
१०८	१४	क्षय	रूप
१११	१	तो	तो
११४	१	अमूर्तीक	मूर्तीक
११७	२१	कि निश्चय	कि जीव निश्चय
१२०	१२	ऐसी	ऐसा
१२१	२०	लाभ	लोभ
१२६	१४	आराधना	आराधना
१२१	६	देह	देव
१२३	२४	पापा वाद	पापवादः
१२५	२०	वास्तव	वास्तव
१२७	१	राग विनाश	रोग विनाश
१२१	७	गर्म	गर्भ
,,	८	पुत्रे	पुत्रं
१२१	२४	सुख	मजा
१२४	२३	पाल	पाली
१२६	१०	गच्छ	गच्छ
१२३	१८	है ही	है ही
१२८	१०	रहस	पहेस
१२९	१२	नाम	नाम
१३०	१३	समुया...	समुपात्त त्रिस्वभा
१३०	१४	मनुभवायो	मनुभवान्यो
		मन	मन

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१८५	१	नन्यभयः	नन्यमयं
,,	७	आणदियं	आर्णिदियं
१८६	३	परभवो	परभावो
१८७	२१	कार्यो	कर्मो
१९२	७	परम	परमें
१९६	१२	आत्मार्थी	आत्माको
१९७	१५	अतीन्द्रिय	अतीन्द्रिय सुख
२००	६	तथापि भेदनय	तथापि अभेदनय
,,	१७	वग	वगम
२०८	२१	वियोगे	वि.योके
२०९	२०	राग	रोग
२१२	१६	शुद्ध रूप	शुभ रूप
२१३	२	शुद्ध	शुद्ध
२१७	२०	भक्ति	मुक्ति
२१८	१४	धारेंगे	धारेंगे
२२०	९	आगे कर	आता को
२२१	७	शुभोपयोग	शुद्धोपयोग
२२४	१९	परिणद	परिणत
२२६	१७	शुभ क्रिया	शुद्ध क्रिया
२२७	३	भव्य	[illegible]
२२८	१२	भवसा	भवसा
२३०	६	सुख	सुखरा

॥ ॐ ॥

श्रीमत् कुन्दकुन्दस्वामी विरचित—

श्री पंचास्तिकाय टीका

द्वितीय खण्ड।

अर्थात्

श्री नवपदार्थदर्पण।

मंगलाचरण।

श्रीजिनेन्द्र चौबीसको, बारबार सिर नाय।
परमातमसिद्धानको भज, सुमरूं उमगाय ॥ १ ॥
आचारज उवझाय गुरु, चरणकमलको ध्याय।
संशय विभ्रम मोहको, हरूं ज्ञानगुण पाय ॥ २ ॥
कुंदकुंद मुनिराजको, परमतपस्वी जान।
कर्ता कायपंचास्तिके, वंदूं धर उर मान ॥ ३ ॥
अध्यातमके भावको, शुद्धकायो सुखकार।
जो जाने माने सुधी, अनुभव पावे सार ॥ ४ ॥
जयसेनाचारज नमूं, वृत्तिकार गुणवान।
जिनकी छाया लेयकर, हिन्दी लिखूं प्रमाण ॥५॥

आगे नव पदार्थाधिकारकी व्याख्या लिखी जाती है—

पीठिका सूचनिका—पहले जो कथन द्रव्य स्वरूपका हो चुका है उसके आगे "अभिवंदिऊण सिरसा" इस गाथाको आदि लेकर

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	१	नन्यभयः	नन्यमयं
,,	७	आणदिये	आणिदिये
१८६	३	परभवो	परभावो
१८७	२१	कार्यो	कर्मो
१९२	७	परम	परमें
१९६	१२	आत्माकी	आत्माको
१९७	१५	अतीन्दिय	अतीन्दिय सुख
२०७	६	तथापि भेदनय	तथापि अभेदनय
,,	१७	वग	वरम
२०८	२३	वियोगे	वियोगे
२०९	२०	राग	रोग
२१२	१६	शुद्ध रूप	शुभ रूप
२१३	२	शुद्ध	शुद्ध
२१७	२०	भक्ति	मुक्ति
२१८	१४	धारिहु	धारहु
२२०	९	नाश कर	नाश करे
२२१	३	शुभोपयोग	शुद्धोपयोग
२२६	१९	परिग्रह	परिग्रह
२२८	१७	शब्द वादि	शब्द वादि
२३७	३	[illegible]	[illegible]
२४४	१७	[illegible]	[illegible]
२४८	६	[illegible]	[illegible]

॥ ॐ ॥

श्रीमत् कुन्कुन्दस्वामी विरचित—

श्री पंचास्तिकाय टीका

द्वितीय खण्ड।

अर्थात्

श्री नवपदार्थदर्पण।

मंगलाचरण।

श्रीजिनेन्द्र चौवीसको, वारवार सिर नाय।
परमातमसिद्धानको भज, सुमरूं उमगाय ॥ १ ॥
आचारज उवझाय गुरु, चरणकमलको ध्याय।
संशय विभ्रम मोहको, हरूं ज्ञानगुण पाय ॥ २ ॥
कुंदकुंद मुनिराजको, परमतपस्वी जान।
कर्त्ता कायपंचास्तिके, वंदूं धर उर मान ॥ ३ ॥
अध्यातमके भावको, झलकायो सुखकार।
जो जाने माने सुधी, अनुभव पावे सार ॥ ४ ॥
जयसेनाचारज नमूं, टीकाकार गुणवान।
जिनकी छाया लेयकर, हिन्दी लिखूं प्रमाण ॥५॥

आगे नव पदार्थाधिकारकी व्याख्या लिखी जाती है—

पीठिका सूचनिका—पहले मोक्षगन द्रव्य स्वरूपका होचुका
सके आगे "अभिवंदिऊण सिरसा" इस गाथाको आदि लेकर
,

पाठ क्रमसे पचास गाथा तक या (अमृतचंद्र कृत) टीकाके अनि प्रायसे अड़तालीस गाथा तक जीवादि नव पदार्थोंको बतानेवा दूसरा महा अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इसके भीतर भी द अंतर अधिकार हैं। उन दश अधिकारोंके भीतर पहले ही नमस्कार गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे चार गाथा तक व्यवहार मोक्ष मार्गकी मुख्यतासे आचार्य व्याख्यान करते हैं। इसतरह प्रथम अंत अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—अब श्री कुंदकुन्दाचार्य अंतिम चौवीसवें तीर्थं कर परमदेवको नमस्कार करके पंचास्तिकाय और छः द्रव्य संबंध जो नव पदार्थोंका भेदरूप मोक्षमार्ग है उसको कहूंगा ऐसा प्रतिज्ञा करते हैं।

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगे मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥११२॥

अभिवद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरम्।
तेषां पदार्थभङ्गं मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अपुणब्भवकारणं) जिस पदं पानेसे फिर जन्म न लेना पड़े ऐसे मोक्षके लिये जो निमित्त कार हैं ऐसे (महावीरं) श्रीमहावीर भगवानको (सिरसा) मस्त झुकाकर (अभिवंदिऊण) नमस्कार करके (तेसिं) उन पहले कहे गा पांच अस्तिकाय और छः द्रव्यके (पयत्थभंगं) नव पदार्थमई भेदरू (मोक्खस्स मग्गं) जो मोक्षका मार्ग बताता है (वोच्छामि) आगे कहूंगा

विशेषार्थ—इस गाथामें पहली आधी गाथासे ग्रंथकार्ने मंगलके लिये अपने इष्टदेवताको नमस्कार किया है। इससे यह भ

सूचित किया है कि श्री महावीरस्वामीका कथन प्रमाण है क्योंकि उन्होंने इस रत्नत्रय मई प्रवृत्तिमें आए हुए महा धर्मरूपी तीर्थका उपदेश किया था इसलिये वे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी मोक्ष-सुख रूपी अमृतरसके प्यासे भव्य जीवोंके लिये, परम्परासे अनंत ज्ञान आदि गुणोंकी प्राप्तिरूप मोक्षके लिये सहकारी कारण हैं। इसके पीछे आधी गाथासे ग्रंथकर्ताने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं नव पदार्थोंका वर्णन करूंगा जो व्यवहार मोक्षमार्गके अंग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषय हैं। यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका परम्परासे कारण है। जहां शुद्ध आत्माकी रुचि, प्रतीति व निश्चल अनुभूति होती है उसे अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि आगे चूलिकामें मोक्षमार्गका विशेष व्याख्यान है तथापि नव पदार्थोंका संक्षेप कथन बतानेके लिये यहां भी कहा है क्योंकि ये नव पदार्थ व्यवहार मोक्षमार्गके विषय हैं, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस अवसर्पिणीकालमें वर्तनेवाले चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान हो गए हैं जिन्होंने मोक्षमार्गका व्याख्यान किया था। वही मोक्षमार्ग परंपरा चला आ रहा है, इसी के साधनसे अनेक भव्यजीव महासुख अतीन्द्रिय व अनन्त आनन्दका लाभ करते हुए कर्म—जो आत्माको दरिद्र करते हैं नष्ट इसीके साधनसे ही श्री अपनी आत्मोन्नति कर रहा है। ग्रन्थ कर्ता परम उपकारी जानकर ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्द स्वामी आचार्यके लिये श्री सर्व तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है। इसमें यह भी तात्पर्य है कि मैं जो कुछ कहता हूं वह उन [illegible]

भावार्थ–निश्चयनयसे जीवादि नौ पदार्थ जाने हुए सम्यक्त होते हैं अर्थात् जो इनमें जीव और पुद्गलको भिन्न देखकर पुद्गलको त्याग जीवको ग्रहण कर लेता है वही सम्यक्तका धारी होता है।

उत्थानिका–आगे प्रथम ही मोक्षमार्गकी सूचना संक्षेपमें करते हैं–

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥ ११३ ॥

सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागदोषपरिहीनं।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनां ॥ ११३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(लद्धबुद्धीणं) आत्मज्ञान प्राप्त (भव्वाणं) भव्य जीवोंके लिये (सम्मत्तणाणजुत्तं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित तथा (रागदोसपरिहीणं) रागद्वेष रहित (चारित्तं) चारित्र (मोक्खस्स मग्गो) मोक्षका मार्ग (हवदि) होता है।

विशेषार्थ–शुद्ध आत्माके अनुभवको रोकनेवाला बंध है जब कि अपने आत्माकी प्राप्ति रूप मोक्ष है। मोक्षरूपी नगर अनंतज्ञान आदि गुणरूपी अमूल्य रत्नोंसे भरा है। उसी नगरका मार्ग सम्यक्त और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग चारित्र है। इस मार्गपर वे भव्य जीव ही चल सक्ते हैं जिनको शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रगटताकी योग्यता है तथा जिनको विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप बुद्धि प्राप्त हो चुकी है। यह मोक्षमार्ग उन अभव्योंको नहीं मिलता जिनमें शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रगटताकी योग्यता नहीं है तथा उन भव्योंको भी नहीं मिलता जिनमें मिथ्या श्रद्धान सहित राग आदि परिणतिरूप विषयानंदमई स्वसंवेदनरूप कुबुद्धि पाई जाती

तथा उनहीको होता है जिनके आत्मज्ञान हो चुका है। (८) इस मार्गकी पूर्णता कषाय रहित पूर्ण वीतरागी जीवोंके ही होती है।

इस गाथामें यह दिखला दिया है कि जबतक कोई भव्यजीव रुचिवान होकर आत्मा और अनात्माका भेद भले प्रकार न समझ लेगा, और भेदज्ञानके अभ्याससे स्वानुभवको न प्राप्त कर लेगा तबतक उसे मोक्षमार्ग नहीं मिल सक्ता है। जब स्वानुभव होता है तब ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रगटता होती है तथा ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव भी जबतक कषायोंके नाशका उद्यम न करेगा और वीतरागी न होगा तबतक वह मोक्षमार्गकी ऐसी पूर्णता नहीं पा सक्ता जिससे आत्माके स्वभावकी प्रगटतारूप केवलज्ञानरूपी साक्षात् मोक्षका लाभ हो सके। अतएव जो मोक्षकी प्राप्ति करना चाहें उनके लिये यह उचित है कि तत्वोंकी रुचि पैदा करें और अध्यात्मिकज्ञानमें रमण करनेके अभ्यासी बनें। जिनको जलसे भिन्न दूध दिखता है वे ही हंस दूधपी जल छोड़ देते हैं। इसी तरह जिनको पुद्गलसे भिन्न आत्माका अनुभव होता है वे ही पुद्गलका मोह त्याग आत्माके स्वभावमें आसक्त हो जाते हैं।

इसीलिये श्री अमितिगति महाराजने बड़े सामायिकपाठमें बड़ी सुन्दर भावना की है—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्रवौ संवर-
स्तद्भेदो निरवद्यनिर्जर विदुषां मुक्तिश्चियं काक्षतः।
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो,
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो॥ ४॥

भावार्थ-हे जिनेन्द्र! मेरे जीवनका समय इन कामोंमें सदा व्यतीत रहो—अर्थात् मैं जीव और अजीव पदार्थोंका भिन्न २ स्वरूप

जानता हूं। (२) बंध और आश्रवको रोकता हूं। (३) संवर और निर्जराको करता हूं। (४) मुक्तिरूपी लक्ष्मीको चाह रखता हूं। (५) शरीर आदिमें अपने निर्मल परमात्म तत्वको निश्चयसे भिन्न अनुभव करता हूं। (६) तथा धर्मध्यान और समाधिके समयमें सदा शुद्ध मन वर्तन करता हूं।

उत्थानिका—आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनको कहते हैं—

नोट—यह गाथा श्री अमृतचंद्रजीकी वृत्तिमें नहीं है।

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्तो ॥१,१४॥

एवं जिनप्रज्ञप्तान् श्रद्दधानस्य भावतो भावान्।
पुरुषस्याभिनिबोधे दर्शनशब्दो भवति युक्तः ॥ ११४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एवं) जैसा पहले कहा है (जिणपण्णत्ते) वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए (भावे) पदार्थोंको (भावदो) रुचिपूर्वक (सद्दहमाणस्स) श्रद्धान करनेवाले (पुरिसस्स) भव्य जीवके (अभिणिबोधे) ज्ञानमें (दंसणसद्दो) सम्यग्दर्शनका शब्द (जुत्तो) उचित (हवदि) होता है।

विशेषार्थ—यहां पदार्थोंसे प्रयोजन है कि तीन लोक व तीन काल सम्बन्धी सर्व पदार्थोंके सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाननेको समर्थ ऐसे केवल दर्शन और केवल ज्ञानमई स्वभावको रखने वाले आत्मा द्रव्यको आदि लेकर सर्व सत्को श्रद्धान करने योग्य है। यहां इस सूत्रमें यद्यपि कोई निर्विकल्प समाधिके अवसरमें निर्विकार शुद्ध आत्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्वको कहा है यद्यपि उसके अधिकार काल पदार्थोंकी रुचि रूप जो व्यवहार सम्यक्त

बातकी मुख्यता बताई है कि व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है।

भावार्थ-इस भव्य जीवका ध्येय अविनाशी स्वाधीन अनंत सुखकी प्राप्ति करना है जो उसी समय संभव है, जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय इन चार घातिया कर्मोंका नाश हो जावे। इनका नाश होनेका उपाय शुद्धात्मानुभव है अर्थात् निश्चय रत्नत्रय है, जहां अपने आत्माका श्रद्धान व ज्ञान सहित अपने आत्मा हीके स्वादमें वर्तन होता है। इस एकीभावका कारण व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो कोई जीवादि नव पदार्थोंका स्वरूप आगम, गुरु तथा प्रमाण, नय, निक्षेपके द्वारा शंकारहित जानकर संसारकी रुचिरूप मिथ्या रुचिको छोडकर स्वरूप प्राप्तिरूप मोक्षकी रुचिको रखकर उनका श्रद्धानी हो जाता है, फिर श्रद्धानके अनुसार मुनि या श्रावकके व्यवहारचारित्रमें अपनेको आरूढ़ करता हुआ पांच इंद्रिय और मनमें जो शुभ या अशुभ पदार्थ ग्रहणमें आवें उनमें यह समझकर कि पदार्थोंका सम्बन्ध कर्म-जनित होता है रागद्वेष न करके, ममताभाव रखता है और निरन्तर इस साम्यभावका अभ्यास करता है उसको उसी तरह स्वात्मानुभव रूप निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग प्राप्त होता रहता है, जैसे दूध बिलोनेवालेको मक्खनका लाभ होता है। जिस समय परिणति स्वरूपमें रमने लगती है आत्म सुखका स्वाद आता है। बस यही आनन्द कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये ध्यानकी अग्नि है। इसी अग्निमें निरन्तर कर्मरूपी ईंधनको जलानेका अभ्यास करते हुए कभी न कभी सब चार घातियाकर्म जल

जाते हैं और यह आत्मा महात्मा या अंतरात्मासे परमात्मा हो जाता है और तब अनन्त स्वाधीन आनन्दका निरन्तर उपभोग किया करता है। श्रीपूज्यपाद महाराज इष्टोपदेशमें कहते हैं—

आत्मानुष्ठाननिष्टस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥
आनंदो निर्दहन्युद्यं कर्मेंधनमनारतं।
न चासौ विद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो व्यवहार प्रपंचसे बाहर होकर आत्माके ध्यानमें तन्मय होजाता है उस योगीके योगबलसे कोई अपूर्व परमानंद अनुभवमें आता है। यही आनंद निरंतर कर्मरूपी ईंधनको जलाता रहता है—आनंद भोगी योगी बाहरी परीषह उपसर्गोंके पड़ने पर भी उनकी तरफ ध्यान न लगाता हुआ किंचित् भी क्लेशको नहीं प्राप्त होता है।

अतएव जो अपना हित करना चाहें तथा इसलोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहना चाहें उनको व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलकर निश्चय मोक्षमार्गका लाभ कर लेना चाहिये—प्रमादमें इस नर जन्मके समयको न खोना चाहिये।

इस तरह नव पदार्थके प्रतिपादक दूसरे महा अधिकारमें व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा पहला अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे जीव आदि नव पदार्थोंके मुख्यतासे नाम तथा गौणतासे उनका स्वरूप कहते हैं—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ १०८ ॥

सदाकाल विद्यमान रहता है। इन सी पदार्थोंके जानने अपना हित करनेका मार्ग सुगम आता है। यदि निश्चयनयसे देखा जावे तो इन सब पदार्थोंमें केवल दो ही द्रव्योंका सम्बन्ध है—जीव और पुद्गल। इसीलिये आस्रव आदि पदार्थोंके दो दो भेद बताए हैं। जैसे जीव आश्रव या भाव आस्रव तथा पुद्गल आस्रव या द्रव्य आस्रव, जीवबन्ध या भावबन्ध तथा पुद्गलबन्ध या द्रव्यबन्ध, जीव संवर या भावसंवर, पुद्गलसंवर या द्रव्यसंवर, जीव निर्जरा या भावनिर्जरा, पुद्गल निर्जरा या द्रव्य निर्जरा, जीव मोक्ष या भाव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष या द्रव्यमोक्ष, जीव पुण्य या भाव पुण्य, पुद्गल पुण्य या द्रव्य पुण्य, जीव पाप या भाव पाप, पुद्गल पाप या द्रव्य पाप। जिन जीवोंके भावोंमें पुद्गलमें परिणमन होता है उनको भाव आस्रव आदि कहा है व जिनमें परिणमन होता है उन पुद्गलोंको द्रव्य आस्रव आदि कहा है। जीव और पुद्गल दोनों परिणमनशील हैं व जहांतक जीव अशुद्ध है वहांतक जीवके भावोंका असर पुद्गलकी परिणति (तबदीली)में व पुद्गलका असर जीवके भावोंकी परिणति (तबदीली)में हुआ करता है। बिना दो द्रव्योंके मेलके न संसार होसक्ता है न मोक्ष होसक्ता है। जो केवल एक ही द्रव्य मानते हैं उनके मतमें बन्ध व मोक्ष या मोक्षका उपाय कुछ भी नहीं बन सक्ता है। जैसा स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें कहा है

कर्मैवात्र फलञ्चात्र लोकोऽयं च परो भवेत्।
विद्याऽविद्यादयश्च न स्युर्न बन्धश्च मोक्षश्च तयोः॥ २५॥

भावार्थ—एक ही द्रव्य माननेसे पुण्य पाप कर्म, सुख दुःख फल, यह लोक परलोक, ज्ञान व अज्ञान, बंध व मोक्ष इन सबका

किया जाता है, व्यवहारनयसे उसीका विस्तार इच्छानुसार व शिष्यकी योग्यताके अनुसार कम व अधिक किया जा सक्ता है। आठ कर्म मूल कर्म हैं, उनमें जो आत्माके गुणोंको घातें ऐसे चार घातियाकर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह पाप-कर्म ही हैं, इनमें पुण्यपना रञ्चमात्र भी नहीं है। शेष चार अघातियाकर्मोंमें पुण्य और पापके भेद होते हैं। सातावेदनीय, शुभ-नाम, उच्चगोत्र व शुभ आयु पुण्यकर्म हैं जबकि असातावेदनीय, अशुभ नाम, नीचगोत्र व अशुभ आयु पापकर्म हैं। बाहरी साताकारी व असाताकारी निमित्तोंका सम्बन्ध मिलाना इन अघातिया कर्मोंका कार्य है। जीव पदार्थसे जीवका स्वरूप, अजीवसे जीवसे अन्य विश्वमें क्या है यह बताकर जिनके कारण यह जीव अशुद्ध या रोगी होता है वे कर्म पुद्गल द्रव्य रूप जड़ हैं, जीवके स्वभावसे भिन्न हैं अजीव हैं, ऐसा समझाया है। जीवकी सत्तामें बंधके सन्मुख होनेके योग्य शक्तिके द्वारा इन जड़ कर्मवर्गणाओंका होजाना यह बतानेको आस्रव है फिर उनहीका जीवके प्रदेशोंके साथ बंधरूप होकर मिलजाना अर्थात् जीवको कुछ काल तक बंधरूप मलीन रखना इसके बतानेके लिये बंध पदार्थ है। वास्तवमें आस्रव और बंध पदार्थोंसे ही यह ज्ञान होता है कि किन भावोंसे जीव अशुद्ध होता है। फिर संसार रोग मिटानेके लिये नया कर्मरूपी रोग रोका जाय इसके लिये संवर पदार्थ कहा है—पुराने बंधे हुए कर्म समयसे पहले शीघ्र आत्मासे छुड़ा डाले जावें इसे बतानेके लिये निर्जरा पदार्थ कहा है—रोग रहित अवस्था बतानेको मोक्ष पदार्थ कहा है कि मोक्षमें जीव अपने आत्माकी शुद्ध अवस्थामें

सदाकाल विद्यमान रहता है। इन नौ पदार्थोंके ज्ञानसे अपना हित करनेका मार्ग सुझ जाता है। यदि निश्चयनयसे देखा जावे तो इन नव पदार्थोंमें केवल दो ही द्रव्योंका सम्बन्ध है—जीव और पुद्गलका। इसीलिये आस्रव आदि पदार्थोंके दो दो भेद बताए हैं। जैसे जीव आश्रव या भाव आस्रव तथा पुद्गल आस्रव या द्रव्य आस्रव, जीवबन्ध या भावबन्ध तथा पुद्गलबन्ध या द्रव्यबन्ध, जीव संवर या भावसंवर, पुद्गलसंवर या द्रव्यसंवर, जीव निर्जरा या भावनिर्जरा, पुद्गल निर्जरा या द्रव्य निर्जरा, जीव मोक्ष या भाव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष या द्रव्यमोक्ष, जीव पुण्य या भाव पुण्य, पुद्गल पुण्य या द्रव्य पुण्य, जीव पाप या भाव पाप, पुद्गल पाप या द्रव्य पाप। जिन जीवोंके भावोंमें पुद्गलमें परिणमन होता है उनको भाव आस्रव आदि कहा है व जिनमें परिणमन होता है उन पुद्गलोंको द्रव्य आस्रव आदि कहा है। जीव और पुद्गल दोनों परिणमनशील हैं व जहां तक जीव अशुद्ध है वहांतक जीवके भावोंका असर पुद्गलकी परिणति (तबदीली)में व पुद्गलका असर जीवके भावोंकी परिणति (तबदीली)में हुआ करता है। विना दो द्रव्योंके मेलके न संसार होसक्ता है न मोक्ष होसक्ता है। जो केवल एक ही द्रव्य मानते हैं उनके मतमें बन्ध व मोक्ष या मोक्षका उपाय कुछ भी नहीं बन सक्ता है। जैसा स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें कहा है—

कर्मैकत्व फलैकत्वं लोकैकं च नो भवेत्।
विद्याविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

भावार्थ—एक ही द्रव्य माननेसे पुण्य पाप कर्म, सुख दुःख फल, यह लोक परलोक, ज्ञान व अज्ञान, बंध व मोक्ष इन सबका

जोडा कभी नहीं होसक्ता है। जीव और पुद्गलका मिश्रण संसार है और दोनोंका पृथक्२ होजाना मोक्ष है। स्वामी कुन्दकुंद महाराजने समयसार आदिमें दो द्रव्योंकी आवश्यकता बता दी है। कहा है-

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहि।
ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४६ ॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदू हि विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४७ ॥

भावार्थ-यदि एक मात्र इस जीवके ही रागादि भाव होते हैं ऐसा मानेंगे तो यह दोष आवेगा कि कर्म्मके उदयके विना भी जीवके रागादि भाव हो जाया करेंगे तब कोई मुक्तात्मा भी सदा वीतरागी नहीं रह सकेगा, उसके भी रागद्वेष भाव हो सकेंगे और यदि एक पुद्गलद्रव्य अपने आप ही विना जीवके भावके निमित्तके कर्मरूप हो जाया करे तो पुद्गल ही कर्म कर्ता हो जायगा, जीवके रागादि भावोंका कुछ कार्य न रहेगा। प्रयोजन यह है कि जीव और पुद्गल यद्यपि अपने२ परिणमनमें आप ही उपादान कारण हैं तथापि एक दूसरेके अशुद्ध परिणमनमें एक दूसरेका निमित्त सहायपना आवश्यक है। पुद्गलकर्मोंके उदयके निमित्तसे जीवके अशुद्ध भाव होते हैं व जीवके अशुद्ध भावोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मवर्गणा पिंड ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप बंधता है। जब ज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थको सम्हालता है और शुद्ध भावोंमें रमण करने लगता है तब कर्मवर्गणा स्वयं आत्मासे अलग होने लगती हैं और यह जीव कभी न कभी शुद्ध और मुक्त हो जाता है। जहां ममत्व है वहां बंध है, जहां निर्ममत्व है वहां मोक्ष है, जैसा स्वामी पूज्यपादने इष्टोपदेशमें कहा है-

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो ममता सहित जीव है वह बंधता है तथा जिसने ममता छोड़ दी है वह मुक्त होजाता है इसलिये सर्व प्रयत्न करके ममता रहित भावका विचार करना चाहिये। इसतरह जीव अजीव आदि नव पदार्थोंके नव अधिकार इस ग्रंथमें हैं इस सूचनाकी मुख्यतासे एक गाथा सूत्र समाप्त हुआ।

आगेके कथनकी सूचना—आगे पंद्रह गाथातक जीव पदार्थका अधिकार कहा जाता है—इन पंद्रह गाथाओंके मध्यमें पहले जीव पदार्थके अधिकारकी सूचनाकी मुख्यतासे "जीवा संसारत्था" इत्यादि गाथासूत्र एक है, फिर पृथ्वीकाय आदि स्थावर एकेंद्रिय पांच होते हैं इसकी मुख्यतासे "पुढवीय" इत्यादि पाठक्रमसे गाथाएं चार हैं। फिर विकलेंद्रिय तीनके व्याख्यानकी मुख्यतासे "संखुक्क" इत्यादि पाठके क्रमसे गाथाएं तीन हैं। फिर नारकी, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति सम्बन्धी चार प्रकार पंचेंद्रियोंका कथन करते हुए "सुरणर" इत्यादि पाठके क्रमसे गाथाएं चार हैं। फिर भेद भावनाकी मुख्यतासे हित अहितका कर्तापना और भोक्तापना कहनेकी मुख्यतासे "ण हि इंदियाणि" इत्यादि गाथाएं दो हैं पश्चात् जीव पदार्थके संकोच कथनकी मुख्यतासे तथा जीव पदार्थके प्रारंभकी मुख्यतासे "एवमधिगम्म" इत्यादि सूत्र एक है। इसतरह पंद्रह गाथाओंसे छःस्थलोंके द्वारा दूसरे अंतर अधिकारमें समुदायपातनिका कही।

उत्थानिका—आगे जीवका स्वरूप कहते हैं—

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥ १७ ॥

जीवाः संसारस्था निर्वृताः चेतनात्मका द्विविधाः।
उपयोगलक्षणा अपि च देहादेहप्रवीचाराः ॥ ११७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवा) जीव समुदाय (दुविहा) दो प्रकारका है (संसारत्था) संसारमें रहनेवाले संसारी (णिव्वादा) मुक्तिको प्राप्त सिद्ध (चेदणप्पगा) ये चैतन्यमई हैं, (उवओगलक्खणा) उपयोग रूप लक्षणके धारी भी हैं (य) और (देहादेहप्पवीचारा) शरीर-भोगी तथा शरीर भोग रहित हैं। जो संसारी हैं वे शरीर सहित हैं तथा जो सिद्ध हैं वे शरीर रहित हैं।

विशेषार्थ-वृत्तिकारने चेतनात्मकका द्विविध विशेषण करके यह अर्थ किया है कि ये संसारी जीव अशुद्ध चेतनामई तथा मुक्त जीव शुद्ध चेतनामई हैं। अशुद्ध चेतनाके दो भेद हैं-कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। रागद्वेष पूर्वक कार्य करनेका अनुभव सो कर्म-चेतना है तथा सुखी और दुःखी होने रूप अनुभव सो कर्मफल-चेतना है। आत्माके शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावका अनुभव सो शुद्ध ज्ञानचेतना है। चैतन्य गुणके भीतर होनेवाली परिणतिको उपयोग कहते हैं। कहा है-"चैतन्यानुविधायि परिणाम उपयोगः"। मुक्त जीवोंके केवलज्ञान और केवल दर्शन उपयोग है जब कि संसारी जीव अशुद्ध या क्षयोपशमरूप मतिज्ञानादि उपयोग सहित हैं। संसारी जीव देह रहित आत्मतत्त्वसे विपरीत शरीरोंके धारी हैं जब कि सिद्ध जीव सर्व प्रकार शरीरसे रहित हैं।

भावार्थ-यद्यपि जातिकी अपेक्षा जीव द्रव्य एक है क्योंकि

ीवत्व या जीवपना सर्व ही जीवोंमें पाया जाता है तथापि अपने अपने गुण पर्यायोंके धारी जीव द्रव्य अनंतानंत हैं, सबकी सत्ता भिन्न२ है। हरएक जीव यद्यपि शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा एक दूसरेके समान हैं तथापि आकार या प्रदेशोंकी अपेक्षा सब भिन्न२ हैं। हरएक जीव अपने भीतर होनेवाले परिणामोंका आप स्वामी है। एकके भावोंका स्वामी दूसरा नहीं हो सक्ता है। जब किस जीवमें अशुद्ध भाव होता है तब वही जीव कर्मोंका बंध करता है, उसी समय यदि दूसरे जीवमें वीतरागभाव होता है तब वह कर्मोंकी निर्जरा करता है। जब कोई जीव सम्यग्दृष्टी है और आत्माके स्वादमें मगन है तब वह आत्मानंदका लाभ कररहा है उसी समय एक मिथ्यादृष्टी जीव आत्माको भूला हुआ विषयसुखमें लीन हो विषयसुख भोग रहा है तब ही दूसरा कोई विषयोंमें सहकारी सामग्रीको न पाकर शोकातुर हो दुःखका भोग कररहा है। प्रयोजन यह है कि हरएक जीव अपने हित तथा अहितका आप ही अधिकारी या जिम्मेवार है। एक दूसरेको उपदेश देकर प्रेरणा तो कर सक्ता है पर बलात्कार कोई किसीके भावोंको नहीं पलट सक्ता। जबतक उसके स्वयं परिणाम न बदलेंगे तबतक वह परके उपदेशसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सक्ता है।

जगतका प्रवाह अनादि है इसलिये अनादिसे ही दो प्रकारके जीव पाए जाते हैं—संसारी और सिद्ध। अनादि प्रवाहरूप अवस्थामें हम जैसे यह नहीं कह सक्ते कि कभी वृक्ष न था बीज ही था व कभी बीज न था वृक्ष ही था किन्तु यही मानना होगा कि बीज और वृक्ष दोनों अनादि हैं, इसी तरह जगतमें संसारी और सिद्ध

है। जब हम किसी मनुष्यको देखते हुए, चलते हुए, फिरते हुए, पढ़ते हुए, काम करते हुए देखते हैं हमको यही अनुमान होता है कि इस जीवका ज्ञानोपयोग इन कामोंमें उपयुक्त है, हम इसको जीवकी साधारण क्रिया कहते हैं। जो मृतक मानो सुननेसे सुनता नहीं, दिखानेसे खाता नहीं, भगानेसे भागता नहीं, कहनेसे सुनता नहीं वह यही अनुमान कराता है कि उपयोगका धारी जीव जो इस शरीरका स्वामी था वह इस शरीरको छोड़ गया है क्योंकि यहां उसके उपयोग लक्षणका अभाव है। इसी कारणसे शास्त्रमें जीवोंका लक्षण उपयोगमई कहा है। सिद्ध या मुक्त जीवोंका उपयोग अपने आत्माके भोगमें तन्मय है इसलिये वे भी शुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोगमई हैं। अनादिसे तैजस, कार्मण शरीरका सम्बन्ध है यही तक संसार है। ये दोनों कारण शरीर हैं। इनहीके कारणसे अन्य तीन शरीर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक होते हैं व काम करते हैं—इन दोनों शरीरोंका बिलकुल छूट जाना मुक्ति है। मुक्त जीवोंमें कारण शरीर नहीं रहता है इसलिये वे कभी भी फिर संसार अवस्थामें नहीं आसक्ते हैं। जिनके साथ कार्मण देह है और जो उन कर्मोंके असरसे किसी जगह रहते हैं उनको उस कर्मके असर हटनेपर और दूसरे बांधे हुए आयु और गति कर्मके उदयके अनुसार उस खास अवस्थाको छोड़कर दूसरी गतिमें आना पड़ता है। सिद्ध जीव किसी कर्मके असरसे नहीं जीते हैं। वे कर्म रहित होकर अपने शुद्ध जीवत्व गुणसे सदा जीते हैं इसलिये वे कभी संसारी नहीं होसक्ते हैं—उनके पांचों ही प्रकारका शरीर नहीं होता संसारी जीव जब अशुद्ध चेतनाके भोगी हैं तब मुक्त या

हैं कि वह भयसे भागता है, परस्पर दो जंतु मैथुन रूप मिल जाते हैं—आहार खोजते हैं—ये ही सब बातें वृक्षादि एकेंद्रियोंमें होती हैं, मात्र रसनादि इंद्रिय और वचनबल इन वृक्षादिमें नहीं होता है।

स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे ये स्थावर हैं। ये स्वयं बुद्धिपूर्वक गमन करते व ठहरते नहीं दीख पड़ते हैं जैसे और कीट आदि स्वयं चलते व ठहरते दिखाई पड़ते हैं, ये अपने स्वभावसे कोई ठहरे रहते कोई चलते रहते हैं।

तत्वार्थसारमें इन स्थावरोंके कुछ दृष्टांत दिये हैं—

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽपस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च ॥ ५८ ॥
रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलं।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥ ५९ ॥
किरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च वादराः।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितः प्रमः ॥ ६० ॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभ।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥ ६१ ॥
मोठो मसारगल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
पट्त्रिंशत्पृथिवीभेदाः भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥ ६२ ॥
अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिका ॥ ६३ ॥
ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ॥ ६४ ॥
महान् घनतनुश्चैव गुंजामंडलिरुत्कलिः।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥ ६५ ॥
मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा।
सम्मूर्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥ ६६ ॥

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ ११९ ॥

त्रयः स्थावरतनुयोगादनिलानलकायिकाश्च तेषु त्रसाः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ॥ ११९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तेसु) इन पांचोंमेंसे (तित्थावर तणुजोगा) तीन कायिक अर्थात् पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय स्थिर शरीर होनेके कारणसे स्थावर हैं (य) तथा (अणिलाणलकाइया) वायुकाय और अग्निकाय धारी जीव (तसा) त्रस जीव कहलाते हैं (एइंदिया जीवा) ये एकेन्द्रिय जीव (मणपरिणामविरहिदा) मनके परिणमनसे रहित असैनी हैं ऐसा (णेया) जाननेयोग्य है।

विशेषार्थ–स्थावर नामकर्मके उदयसे भिन्न तथा अनंतज्ञानादि गुण समूहसे अभिन्न जो आत्मतत्त्व है उसके अनुभवसे शून्य जीवने जो स्थावर नामकर्म बांधा है उसके आधीन होनेसे यद्यपि अग्नि और वायुकायिक जीवोंको व्यवहारनयसे चलनापना है तथापि निश्चयनयसे ये स्थावर ही हैं–

भावार्थ–इस गाथामें स्थावरके अर्थ ठहरे हुए व त्रसके अर्थ चलनेवाले मानकर पृथ्वी, जल और वनस्पतिको मात्र स्थावर और वायु तथा अग्निको त्रस कहा है–परन्तु स्थावर नामकर्मके उदयकी अपेक्षासे ये पांचों ही स्थावर हैं–त्रस द्वीन्द्रियादि हैं। जैसा श्री उमास्वामी महाराजने तत्वार्थसूत्रमें कहा है—

"पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ २ ॥
'द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ २ ॥"

श्रीगोमट्टसार जीवकांडमें स्थावरोंके पांच भेद कहे हैं—

व वध करे व कष्ट दे व ताड़ें व गर्मी सरदी पहुंचावे तो वे जीव पराधीन हो सब सहते हैं—स्पर्शनेन्द्रियसे विषय ग्रहण कर मोह द्वारा द्वेषभाव उत्पन्न कर दुःखी होते हैं वैसे ही एकेंद्रिय जीव असमर्थ हैं—कोई उनको नष्ट करे, तोड़े, मरोड़े, दलमले, गर्मी शरदी पहुंचावे, काटे व तपावे तो वे अपनी रक्षा नहीं कर सक्ते। असमर्थपनेसे पराधीन रहकर स्पर्शनेंद्रियसे मानकर व मोहके कारण द्वेषभाव जागृत कर सब कष्टोंको सहते हैं। मूर्छा मात्र मानवका दृष्टान्त मात्र बुद्धिपूर्वक व्यापार न करनेकी अपेक्षा एकेन्द्रियोंके लिये दिया गया है। एकेंद्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जो इंद्रियद्वारा ग्रहणमें न आवें व जो किसीसे बाधाको न पावें न स्वयं बाधा दें—पर्वतादिके भीतर भी हों व उनके भीतरसे निकल जासकें वे सब सूक्ष्म एकेंद्रिय हैं, तथा जो आधारमें हों व इंद्रियद्वारा ग्रहणमें आवें व बाधा करें व बाधाको पावें वे सब बादर एकेंद्रिय हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद ये पांच प्रकारके एकेंद्रिय जो सूक्ष्म हैं वे तीन लोकमें सर्वत्र हैं। बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि व निगोद जीव जो बादर हैं उनमेंसे ही कुछ हमारा इंद्रियों द्वारा ग्रहण होते हैं। प्रत्येक-वनस्पति बादर ही होती है। उसमें जिन प्रत्येक वनस्पतिके आश्रय निगोद या साधारण या अनन्तकाय [illegible] जबतक रहती है तबतक वे प्रतिष्ठित प्रत्येक व सब [illegible] आश्रय [illegible] नहीं रहती है तब वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहे जाते हैं। श्री उमास्वामीने कहा है—

बादरसुहुमएइंदिय पज्जत्तापज्जत्तभेदओ दुविहा।
पढमतरोरं पुढवी आयारेदरे दुवे सुहुम ॥ १८३ ॥

एकेन्द्रिय प्राणियोंके घात करनेसे चार प्राणोंका घात होता है। वे चार प्राण हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इनके वियोगका नाम मरण है। इस तरह पांच स्थावरोंके व्याख्यानकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे द्वीन्द्रिय जीवोंके भेदोंको कहते हैं—

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा॥ १२२॥

शंबूकमातृवाहाः शंखाः शुक्तयोऽपादका च कृमयः।
जानन्ति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रिया जीवाः॥ १२२॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(संबुक्क) संबूक एक जातिका क्षुद्र शंख, (मादुवाहा) मातृवाह (संखा) शंख (सिप्पी) सीप (य) और (अपादगा) पाव रहित (किमी) कृमी जैसे गिंडोला, कृमि, लट आदिक (जे) जो (रसं) रस या स्वादको व (फासं) स्पर्शको (जाणंति) जानते हैं (ते) वे (जीवा) जीव (बेइंदिया) द्वीन्द्रिय हैं।

विशेषार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव द्वीन्द्रियके स्वरूपसे पृथक् तथा केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अभिन्न अर्थात् तन्मय शुद्ध अभिप्राय है। ऐसे शुद्ध आत्माकी भावनाके द्वारा जो सदा आनंदमई एक लक्षण सुख-रसका आस्वाद आता है उसको न पाकर स्पर्शन और रसना इंद्रिय आदिके विषयोंके सुखके रसास्वादमें मगन जीवोंने जो द्वीन्द्रिय जातिनामा नामकर्मका बंध किया था उस कर्मके उदय कालमें वीर्यांतराय और स्पर्शनेंद्रिय रसनेंद्रियके आवरण नामा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके लाभमें शेष इंद्रियोंके आवरण रूप कर्मोंके उदयपर तथा नोइंद्रिय

जो मन उसके आवरण रूप कर्मके उदय होनेपर ये जीव द्वीन्द्रि विना मनके होते हैं।

भावार्थ—यहां गाथामें स्पर्श और रसना मात्र दो इंद्रियोंसे ही उपयोग द्वारा काम करनेवाले द्वीन्द्रिय जीवोंके कुछ दृष्टांत दिये हैं। इनके भी कारण तथा कार्यका सम्बन्ध तर्कद्वारा पहलेसे विचार करनेवाला मन नहीं होता है—ये भी अपनी दोनों इंद्रियोंके वशीभूत हो अनेक इच्छाओंको प्राप्त हो उनके लिये निरंतर चेष्टा किया करते हैं। इनके रागद्वेष रूपी कर्म प्रगट दीखनेमें आते हैं इसलिये इनके कर्म चेतनाकी भी मुख्यता है। सुख दुःखके अनुभव रूप कर्मफल चेतना तो है ही। इन द्वीन्द्रिय जीवोंके एकेंद्रियोंकी अपेक्षा दो प्राण अधिक हैं—एक रसनाइंद्रिय एक वचन बल, इस तरह इनके छः प्राण हैं। इसलिये इनकी हिंसामें एकेंद्रियोंकी अपेक्षा अधिक दोष है। दयावानोंको इन जंतुओंपर भी दया रखनी चाहिये और यथाशक्ति इनकी रक्षा करनी योग्य है। तत्वार्थसारमें भी इनके उदाहरण इस तरह दिये हैं—

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः।
कुक्षिकृम्यादयश्चेते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥ ५३ ॥

भावार्थ—शम्बूक, संख, सीप, गंडूपद, कौड़ी, पेटके बल चलनेवाले कीड़े आदि द्वीन्द्रिय प्राणी हैं।

उत्थानिका—आगे त्रीन्द्रियके भेदोंको कहते हैं—

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥ १२३ ॥

यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिका वृश्चिकादय कीटाः।
जानन्ति रसं स्पर्शं गंधं त्रीन्द्रियाः जीवाः ॥ १२३ ॥

गंधको, (पुरु) तथा (फास) स्पर्शको (जाणंति) जानते हैं (ते वि) ये ही चौइन्द्रिय जीव हैं।

विशेषार्थ-जो मिथ्यादृष्टी जीव निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी भावनासे उत्पन्न जो सुख रूपी अमृतका पान उससे विमुख है तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदि इंद्रियोंके विषयोंके सुखके अनुभवमें लीन हैं वे चौइन्द्रिय जाति नामा नामकर्म बांधते हैं। इस नाम कर्मके उदयके आधीन होकर तथा वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इंद्रियका आवरणरूप मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमके सामने और नोइन्द्रियके आवरणके उदयसे चारइन्द्रियधारी मन रहित होते हैं, यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें चारइन्द्रिय धारी जीवोंके दृष्टांत है।

सर्वार्थसारमें भी इस तरह बताया है-

मधुपः कीटकोदंशमक्षी मक्षिकादयः।
चतुरादीनि भाषन्ते जन्तवोऽनुविधिद्रियाः॥ ५॥

भावार्थ-मधुमक्षी, कीड़ा, डांस, मच्छर, मक्खी आदि चार इंद्रिय जीव होते हैं। जो अपनी इंद्रियोंके [illegible] चार इंद्रिय [illegible]

इसलिये दुःखरूपी रोगोंको नाश करनेवाले धर्मरूपी अमृतको सदा पीना चाहिये जिसके पीनेसे जीवोंको सदा उत्तम सुख मिलता है।

इसतरह विकलेन्द्रियके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे पंचेन्द्रियके भेदोंको कहते हैं—

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगन्धसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेन्दिया जीवाः ॥१२५॥

सुरनरनारकतिर्यंचो वर्णरसस्पर्शगन्धशब्दज्ञाः।
जलचरस्थलचरखचरा बलिनः पंचेन्द्रिया जीवाः ॥ १२५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(सुरणरणारयतिरिया) देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच (जलचर थलचर खचरा) जो जलचर, भूमिचर तथा आकाशगामी हैं (बलिया) ऐसे बलवान (जीवा) जीव (वण्ण रसप्फासगंधसद्दण्हू) वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको समझनेवाले (पंचेंदिया) पंचेंद्रिय होते हैं।

विशेषार्थ–वृत्तिकारने यह अर्थ किया है कि तिर्यंच पंचेन्द्रियोंमें कोई२ बड़े बलवान होते हैं जैसे जलचरोंमें झष, थलचरोंमें अष्टापद खेचरोंमें मेरुण्डी। जो बहिरात्मा सब दोष रहित परमात्माके ध्यानसे उत्पन्न निर्विकार तात्त्विक आनन्दमई सुखसे विपरीत इन्द्रिय सुखमें आसक्त हैं वे पंचेन्द्रिय जाति नामका नाम कर्म बांध लेते हैं। उसके उदयको पाकर, वीर्यान्तराय कर्म तथा स्पर्शन रसना, घ्राण चक्षु और कर्णेन्द्रिय ज्ञानके आवरण कर्मके क्षय व क्षयोपशमके लाभसे तथा नोइन्द्रिय जो मन उसके द्वारा ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके उदय होनेपर कोई जीव पंचेन्द्रिय मन रहित होते

हैं तब वे शिक्षा, वार्तालाप, व उपदेश ग्रहणकी शक्तिसे शून्य होते हैं तथा कोई नोइन्द्रिय ज्ञानके आवरणके क्षयोपशमके लाभसे मन सहित सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं। इन पंचेन्द्रिय जीवोंमें नारकी मनुष्य और देव तो सब सैनी ही होते हैं-पंचेन्द्रिय तिर्यंच सैनी और असैनी दो भेदरूप हैं। तथा एकेन्द्रियसे ले चार इन्द्रिय जीव तो सब असैनी ही होते हैं। यहां किसीने शंका की कि असैनी जन्तुओंके भी क्षयोपशम ज्ञानसे विचार होता है तथा क्षयोपशमसे उठनेवाले विकल्पको ही मन कहते हैं यह विकल्प जब असैनीके है तब उनको असैनी क्यों कहा है इसका समाधान वृत्तिकार कहते हैं कि असैनीको कार्य कारणकी व्याप्तिका ज्ञान नहीं होता है-वे पहलेसे हरएक विषयमें यह नहीं विचार कर सक्ते कि ऐसा करनेसे यह लाभ होगा व यह हानि होगी-असैनी जीव अपने २ स्वभाव वसे विना हानि लाभ विचारे काम करते हैं जैसे-चींटी गन्धके विषयमें व आहार आदि संज्ञा रूपसे जो चतुराई रखती है वह उसके जातिस्वभावसे है, अन्य विषयोंमें उसका ज्ञान विचार नहीं कर सक्ता है। मनमें यह शक्ति है कि तीन जगत व तीन काल सम्बन्धी व्याप्तिज्ञान रूप केवलज्ञानमें जो परमात्मा आदि तत्त्व जाने गए हैं उनको परोक्ष रूपसे जान सक्ता है इसलिये वह केवलज्ञानके समान है, यह भावार्थ है।

भावार्थ-इस गाथामें पांच इन्द्रियधारी जीवोंके उदाहरण हैं। जो मतिज्ञानावरणके क्षयोपशम व वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे ऐसी शक्ति आत्मामें प्रगट कर पाते हैं जिससे वे पांचों इंद्रियोंसे ज्ञान कर सक्ते हैं-एकेन्द्रियसे ले चार इन्द्रियतक तो जीव सब तिर्यंच

ही होते हैं, पंचेन्द्रियोंमें भी चार इन्द्रियके समान मन रहित असैनी तिर्यंच होते हैं तथा इन तिर्यंचोंमें सैनी तिर्यंच भी होते हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं—जो पानीमें पैदा होते व जीते हैं जैसे—मछली, ग्राह आदि जलचर। जो चार पदवाले घूमते हैं जैसे गाय, बलद, घोड़ा, ऊंट, हाथी, कुत्ता, हिरण ऐसे थलचर तथा जो आकाशमें उड़ते हैं जैसे कबूतर, मोर, काक, चील, तोता, मैना ऐसे आकाशचर असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके दृष्टांत किसी शास्त्रमें देखनेको नहीं मात हुए। ऐसा सुना जाता है कि समुद्रमें कोई जातिके सर्प होते हैं वे असैनी होते हैं तथा जंगलमें सम्मुर्छन उत्पन्न होनेवाले तोते व मूषक असैनी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी सब मन सहित तिर्यंच होते हैं। जिनके मन होता है वे ज्ञानमें बहुत बड़ी होते हैं—वे पहलेसे ही हानि व लाभ विचारकर कामकरते हैं, कहीं भयका कारण मालूम हो तो पहलेसे ही नहीं आते हैं, उपकारीको पहचानकर उसके साथ उपकार करते हैं तथा जो हानिकारक मालूम होता है उसके नाशका उद्यम करते हैं, यदि कोई सेवन किया जावे तो समझ लेते हैं। याद शिक्षा दी जावे तो ग्रहण कर लेते हैं। नये विचार कर सकते हैं। जीव आदि सूक्ष्म पदार्थोंको भी मान सकते हैं। जिनके मन नहीं होता वे इन बातोंसे रहित होते हुए अपनी इंद्रियोंके विषयोंमें [illegible] रखी हुई [illegible] भावसे एक इन्द्रियके धारी [illegible] सहित हिरण वनमें [illegible]

उधर जायगा नहीं जब कि मनरहित एक पतंगा दीपकमें एक दूसरेको जलते हुए देखकर भी यह न विचार कर सकेगा कि मुझे दीपकके पास न जाना चाहिये किन्तु फिर भी आंखके विषयका प्रेरा चला जायगा। तत्वार्थसारमें संज्ञीका लक्षण ऐसा ही कहा है-

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः ॥६३॥

भावार्थ-जो शिक्षा, व क्रियारूप अर्थको ग्रहण करनेवाला है वह मनसहित संज्ञी है। जो इससे विपरीत है वह मनरहित असंज्ञी है।

श्रीगोम्मटसारजीमें कहा है—

सिक्खाकिरियुवदेसा लावग्गाहा मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ॥६६॥
मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।
सिक्खदि णामेणेदिय समणो असणो य विवरीदो ॥६६॥

भावार्थ-हित अहितको करने व छोड़नेरूप शिक्षा, हाथपगको इच्छासे चलावने आदिरूप क्रिया, चामड़ी आदि संकेत करके उपदेश किया हुआ बध विधानादि सो उपदेश, श्लोकादिका पाठ सो आलाप, इनका समझनेवाला जो मन उसके अवलम्बनसे मनुष्य, बैल, हाथी, तोता इत्यादि जीव सो सज्ञी नाम है। इस लक्षणसे उल्टा लक्षणधारी जीव सो असंज्ञी है। जो पहले कर्तव्य अकर्तव्यकी मीमांसा करे, वि शेष, तत्त्व कुतत्त्वको सीखे, नामसे बुलाया हुआ आज्ञाय सो जीव मनसहित सैनी है। जो इससे उल्टा हो वह असैनी है।

उत्थानिका-आगे एकेन्द्रिय आदिके भेदसे जिन जीवोंको कहा है उनके चार गति होती है ऐसा कहते हैं-

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥ १२६ ॥

देवाश्चतुर्निकाया मनुजा पुनः कर्मभोगभूमिजाः।
तिर्यंचः बहुप्रकारा नारका पृथिवीभेदगताः ॥ १२६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(देवा) देवगतिवाले जीव (चउण्णिकाया) चार समूह रूपसे चार प्रकार हैं। (पुण) और (मणुया) मनुष्य (कम्मभोगभूमीया) कर्मभूमि और भोगभूमिवाले हैं। (तिरिया) तिर्यंच गतिवाले (बहुप्पयारा) बहुत तरहके हैं (णेरइया) नारकी (पुढविभेयगदा) पृथ्वीके भेदके प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—देवोंके चार समूह हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। मनुष्योंके दो भेद हैं—एक वे जो भोगभूमिमें जन्मते हैं। दूसरे वे जो कर्मभूमिमें पैदा होते हैं। तिर्यंच बहुप्रकार हैं। एकेन्द्रिय तिर्यंच हैं। शम्बूक आदि दो इन्द्रिय, जूआदि तीन इन्द्रिय, डाम आदि चार इन्द्रिय ऐसे तीन प्रकार विकलत्रय तिर्यंच हैं। जलमें चलनेवाले, भूमिमें चलनेवाले तथा आकाशमें उड़नेवाले ऐसे तिर्यंच पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। [illegible] जिनमें सात नरक हैं उनमें नित्य नारकी हैं। यहां सूत्रका यह [illegible] के भवनमें [illegible] हैं उन [illegible] तिर्यंच [illegible] जायेंगे वे भोग [illegible] देव आदि तिर्योंमें पैदा होते हैं।

भावार्थ इस [illegible] चार तरहके

नेकी बहुत आकुलता रहती है। देवियोंकी आयु देवोंके मुकाबले थोड़ी होती है—सोलहवें स्वर्गकी देवीकी आयु पचपन पल्यकी होती है तब वहां बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु देवकी होती और एक सागर दश कोड़ाकोड़ी पल्यका होता है इस कारण देवको अपनी नियोगिनी बहुतसी देवियोंका मरण पुनः पुनः देखना पड़ता है जिसका वियोग उनके चित्तमें रहता है। देवगतिमें भी जो मिथ्यादृष्टी व विषयलम्पटी हैं वे दुःखी हैं—वहां भी वे दुःखी व संतोषी रहते हैं जो सम्यग्दृष्टि और तत्त्वज्ञानी हैं। जैसे देवगति पुण्यके उदयको जीवके साथ अनगिनती वर्षोंतक रखती है वैसे ही नरकगति पापके उदयको अनगिनती वर्षोंतक रखती है। नरककी सात पृथिवियां हैं, उनमें नारकी महा भयानक शरीरके आकार रखनेवाले पंचेन्द्रिय सैनी पैदा होते हैं। मूलमें उनके भी शरीरका आकार मनुष्यके समान होता है, परन्तु उनमें अपने ही शरीरको अनेक आकार रूप बदलनेकी शक्ति है। इससे वे इच्छानुसार सिंह, स्याल, भेड़िया आदि अनेक भयानक पशुका रूप रखलेते हैं। नारकी एक दूसरेको देखकर क्रोधित होजाते हैं और परस्पर एक दूसरेको नाना प्रकार दुःख देते हैं। नरककी भूमि बड़ी दुर्गंधमय होती है, पानी महा खारी होता है। वे नारकी निरंतर भूख प्यासकी वेदनासे आकुल रहते हैं, नरककी पृथ्वीकी मिट्टी व नदीका खारी जल खानेपीते हैं तथापि उनकी भूखप्यास मिटती नहीं है। जैसे देवगतिमें यह संसारी प्राणी दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक सुख भोगता है वैसे नरकगतिमें नारकी दशहजार वर्षकी आयुसे

भावार्थ–हे आत्मन्! तूने देवगतिमें देव और देवियोंमे
हुए स्थानमें नाना प्रकारकी भोग सम्पदाएं बार बार पाई है तौ
तृप्त नहीं हुआ। अत्यन्त भयानक, क्रूर भावसे पूर्ण नर्कमें भी कर्मो
उदयसे जाकर नाना प्रकारके दुःखोंमें पड़ा है। तिर्यंच गति
छेदन भेदन आदिसे जो२ दुःख तूने पाया है, उसको करोड़ों जबा
नोंसे भी कोई मनुष्य नहीं कह सक्ता है। इस संसारमें भ्रमते हुए
इस जीवने देव, मनुष्य व तिर्यंच गतिमें जो कुछ सुख था वह
बार बार पालिया है परन्तु तृप्त न हुआ। कर्मोंके उदयसे चारों ही
गतियोंमे इस भयानक संसारके भीतर घूमते हुए अनेक सुख तथा
दुःख पाए हैं।

इस प्रकार अत्यन्त क्षणभंगुर व कष्टमई संसारकी अवस्थाको
जान कर क्यों नहीं वैराग्यभावको प्राप्त करता है। यदि वैराग्य न
पाएगा तो तेरा जीवन धिक्कारके योग्य है। यह जीवन बिजुरीके
समान चचल है, पदार्थोंका सयोग स्वप्नके समान है, स्नेह सम्पदा
लक्ष्मीके समान है तथा शरीर तृणपर पड़े हुए जलबिंदुके समान
क्षणभंगुर है। ये भोग इन्द्रधनुषके समान है, सम्पत्ति मेघोंके समान
है, युवानी मस्त भैंसाके समान है ये सब ही बातें क्षणभंगुर है।
इसलिये ज्ञानी जीवको पंचम गति मोक्षको ही उपादेय जान
उसीकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करना योग्य है।

उत्थानिका आगे दिखलाते है कि गति नामा नामकर्म व
आयु कर्मके उदयसे प्राप्त जो देव आदि गतियें है उनमें आत्मा का
स्वभावपना नहीं है। वे आत्माकी विभाव या अशुद्ध अवस्था
है। अथवा जो कोई वादी ऐसा कहते है कि जगतमें एक आत्मा

अन्य अन्य अवस्थाएं नहीं होती हैं, देव मरके देव ही होता है मनुष्य मरके मनुष्य ही होते हैं उनके इस कथनका निषेध करने लिये कहते हैं—

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च णेवि खलु।
पावुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥ १२०

क्षीणे पूर्वनिबद्धे गतिनाम्नि आयुषि च नैऽपि खलु।
प्राप्नुवन्ति चान्यां गतिमायुष्कं स्वलेश्यावशात् ॥ १२० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पुव्वणिबद्धे) पूर्वमें बांधे (गदिणामे) गतिनामा नाम कर्मके (च) और (आउसे) आयु क (खीणे) क्षय होजाने पर (णेवि) वे ही जीव (खलु) वास्तवमें (स सवसा) अपनी २ लेश्याके वशसे (अण्णं) अन्य (गदिम्) गति (य) और (आउस्सं) आयुको (पावुण्णंति) पाते हैं।

विशेषार्थ—ये संसारी जीव अपने २ परिणामोंके आ भिन्न २ गति व आयुको बांधकर जन्मने रहते हैं। कृष्ण, नी कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छः लेश्याएं होती हैं इनका स्व श्री गोम्मटसारमें विस्तारसे कहा है जैसे—कृष्ण लेश्याका स्व यह है " चंडो ण मुचइ वेरं भंडलसीलो य धम्मदयरहियो। ण यएदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥ ५०९ ॥ " भावार्थ— प्रचंड तीव्र क्रोधी हो, वैर न छोड़े, बकनेका व युद्ध करने जिसका सहज स्वभाव हो, दयाधर्मसे रहित हो, दुष्ट हो, कि गुरुजन आदिके वश न हो। ये लक्षण कृष्ण लेश्या वालोंके हैं

यह अध्यात्म ग्रंथ है इससे विशेष नहीं कहा है तथा कुछ संक्षेपसे लिखते हैं—" कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिः

कषायानुरंजित नहीं होती है तथापि योग प्रवृत्ति रहनेसे शुक्ललेश्या सयोगकेवली तक बताई है—अयोगकेवलीके न योग प्रवृत्ति है न कषायोंका उदय है इसलिये वहां लेश्याका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। छः लेश्याओंमें कृष्ण, नील, कापोत अशुभ हैं जब कि पीत, पद्म, शुक्ल शुभ हैं। नारकी जीव और चार इंद्रिय तक सब जीव तीन अशुभ लेश्यावाले ही हैं। पंचेन्द्रिय असैनीके कृष्णसे पीततक चार लेश्याएं होती हैं, शेष पंचेन्द्रिय सैनी मनुष्य तथा तिर्यंचोंके छहों लेश्याएं होती हैं। देवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या ही है। अपर्याप्त अवस्थामें भवनवासी, व्यंतर ज्योतिषीके कृष्ण, नील व कापोत तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। कृष्णलेश्याका स्वरूप कहा जाचुका है अन्य पांच लेश्याओंका स्वरूप नीचे प्रकार श्री गोम्मटसारमें है—

णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥ ५११ ॥

भावार्थ—जिसके निद्रा बहुत हो, जो दूसरोंको बहुत ठगता हो, धन धान्य आदिमें तीव्र लालसावान हो, यह संक्षेपसे नील-लेश्यावाले जीवका चिह्न कहा गया है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥५१२॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं इव परंपि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढिं वा ॥५१३॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगंपि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ५१४ ॥

भावार्थ—जो दूसरोंपर बहुत क्रोध करे, बहुत प्रकार औरकी निन्दा करे, बहुत प्रकार दूसरोंको दुःखी करे, जिसके शोक व भय

बहुत हो, जो दूसरोंके साथ ईर्षा रक्खे, दूसरोंका अपमान करे, अपनी बहुत बड़ाई करे, जो अपने समान दूसरेको पापी व कपटी मानता हुआ उसका विश्वास न करे, जो अपनी स्तुति करे उसपर बहुत प्रसन्न हो, दूसरेकी हानि व लाभपर ध्यान न दे, जो युद्धमें अपना मरण चाहे, जो अपनी बड़ाई करे उसको बहुत धन दे, तथा जो कर्तव्य अकर्तव्यको न गिने ऐसे चिह्न कापोतलेश्यावालेके होते हैं।

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥ ५१५ ॥

भावार्थ—जो कर्तव्य अकर्तव्य, सेवनेयोग्य न सेवनेयोग्यको जाने, सर्वको अपने समान देखनेवाला हो, दया व दानमें प्रीति रखता हो तथा मन, वचन, कायमें कोमल हो ऐसे चिह्न पीत लेश्यावाले जीवके होते हैं।

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१६ ॥

भावार्थ—जो त्यागी हो, भद्र हो—सुकार्य करनेका स्वभाव रखता हो, शुभ कार्यमें उद्यमी हो, दुष्ट व उपद्रवको बहुत सहन करनेवाला हो, साधुओंकी और बड़ोंकी भक्तिमें प्रीतिमान हो ऐसे चिह्न पद्मलेश्यावाले जीवके हैं—

ण कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसि।
णत्थि य रायदोसा णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५१७ ॥

भावार्थ—जो पक्षपात न करे, जो निदान न करे अर्थात् भोगाकांक्षासे धर्म न सेवे, जो सर्व जीवोंमें समताभाव रखता हो, इष्ट व अनिष्टमें राग द्वेष न करता हो, पुत्र स्त्री आदिमें स्नेह रहित हो ऐसे चिह्न शुक्ललेश्यावाले जीवके हैं।

कृष्णलेश्यावालेका लक्षण ऐसा भी कहा है—

मंदो बुद्धिविहीणो णिरिक्खवंको य णिरयवोलो य।
मायो मायो य सढो अलसो भेद भेदो य ॥ ५०७ ॥

भावार्थ—जो स्वच्छंद हो, क्रियामें मंद हो, बुद्धि रहित हो, वर्तमान कार्यको न जानता हो, विज्ञान व चतुराईसे रहित हो, इंद्रियोंके विषयोंका अति लम्पटी हो, अभिमानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, तथा जिसके मनके अभिप्रायको दूसरा न जान सके ये सब कृष्णलेश्यावाले जीवके हैं।

इन छः लेश्याओंके लिये एक दृष्टांत दिया है सो यह है—

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्मि।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥ ५०३ ॥
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥ ५०८ ॥

भावार्थ—कृष्णादिक छहों लेश्यावाले छः पथिक मार्ग भूलकर एक वनमें पहुंच गए। वहां फलके भारसे भरे हुए एक वृक्षको देखकर वे ऐसा विचार करने लगे—कृष्णलेश्याके भावको रखनेवाला विचारता है कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़ डालूंगा और फल खाऊंगा। नील लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षके पेड़ या स्कंधको काटकर फल खाऊंगा। कपोत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षकी बडी२ शाखाओंको काटकर फल खाऊंगा। पीत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी छोटी टहनियोंको काटकर फल खाऊंगा। पद्मलेश्यावाला विचारता है कि मैं वृक्षोंके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा। शुक्ललेश्यावाला विचारता है कि मैं उन फलोंको ही खाऊंगा जो अपनेसे टूटकर गिरे हों। इस

प्रकार मनमें विचारे व कहे सो छः लेश्याओंके कर्म हैं।

इस दृष्टांतसे छः प्रकारकी लेश्याओंके भीतरके भावोंका पता चलता है।

इन लेश्याके अंशोंसे ही परभवके लिये आयु बंध होती है व इन ही लेश्याओंको लिये हुए ही मरकर नहीं उस लेश्याका होना संभव है वहीं यह जीव जाता है।

छह लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ऐसे अठारह भेद हैं इनमें जीव मरकर दूसरी गतिको जाते हैं। इनहीके मध्यमें आठ अंश ऐसे हैं जिनमें आयुकर्मका बंध होता है। गोम्मटसार कर्मकांडके स्थानसमुत्कीर्तन अधिकारमें कहा है कि तेजोलेश्याके जघन्य स्थानके पीछे अनंत गुण वृद्धिरूप मध्यम स्थानसे लगाय कापोतलेश्याका जघन्य स्थानके पीछे अनंतगुण वृद्धिको लिये हुए उसहीके मध्यम स्थान पर्यंत अथवा कापोतलेश्याके जघन्य स्थानके पीछे अनंतगुण वृद्धिरूप जो तेजोलेश्याका मध्यम स्थान तहां पर्यंत पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नीलके जघन्य अंश ऐसे चार अंश तो दे तथा चार अंश नीचे प्रमाण हैं—

(१) चारों ही आयुबंधके कारण एकसी भेद समान कषायमें कृष्णादि छहों लेश्याके मध्यम अंश।

(२) नरक बिना तीन आयु बंधके कारण धूलि रेखा समान कषायमें कृष्णादि छहों लेश्याके मध्यम अंश।

(३) नरक तिर्यंच बिना दो आयु बंधके कारण धूलिरेखा समान कषायमें कृष्णादि छहों लेश्याके मध्यम अंश।

(४) केवल देव आयु बंधके कारण धूलि रेखा समान कषायमें

जब किसी अपकर्षमें परभवके लिये आयु बांध ली हो तब उसके आगे आनेवाले अपकर्षोंमें उस समयकी लेश्याके अनुसार आयुकी स्थिति कम व अधिक होसक्ती है, दूसरी आयु नहीं बन्धती है। चार आयुबंधमें एक ही आयुका बंध होता है।

भोगभूमिके मनुष्य तिर्यंच अपनी आयुकी स्थितिमें नौ मास शेष रहनेपर देव, नारकी अपनी स्थितिके छः मास शेष रहनेपर इसी स्थितिको आठ त्रिभागोंके कालमेंही आयु बांधते हैं। मरण समय कौनसी लेश्यावाला कौनसी गतिको जाता है इसका कथन श्रीगोम्मटसारजीके अनुसार इसलिये दिया जाता है कि जो अपना हित करना चाहें वे शुभगति सम्बंधी भावोंके होनेको निमित्त मरण समय मिलनेका उद्यम रक्खें।

सेसट्ठारसअंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति।
एक्कुकस्संसमुदा सव्वट्ठ जांति खलु जोवा ॥ ५१६ ॥

भावार्थ—लेश्याके छब्बीस अंशोंमेंसे मध्यके आठ अंशको छोड़कर जिनमें आयुकर्म बंधनेकी योग्यता है शेष अठारह अंशोंमें अर्थात् छहों लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदोंमें चारों गतियोंमें जानेके कारण भाव होते हैं।

शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुये जीव सर्वार्थसिद्धिको ही जाते हैं। यहां उत्कृष्ट देव आयुकी स्थिति तेतीस सागर होती है। श्री गोम्मटसारजी गाथा ५५० से ५५० तक जो लेश्याओंके गतिका जन्मोंका कथन है उसका भाव नीचे प्रमाण जानना—

शुक्ल लेश्याके उत्तम अंशसे मरे जीव अनुत्तर नाम तेरहवें पटलमें लेकर विजय आदि चार अनुत्तर विमानोंमें पैदा होते हैं।

तथा शुक्ल लेश्याके जघन्य अंशसे मरकर शतार सहस्रार नाम ११ वें व १२ वें स्वर्गमें जन्मते हैं। पद्म लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर सहस्रार नाम बारहवें स्वर्गमें तथा उसके जघन्य अंशसे मरकर सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें पैदा होते हैं तथा पद्म-लेश्याके मध्यम अंशसे मरकर सहस्रारसे नीचे सनत्कुमार, माहेन्द्रके ऊपर यथायोग्य जन्मते हैं। तेज या पीत लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके अंतके पटलमें चक्रनामा इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानोंमें उपजते हैं। तेज लेश्याके जघन्य अंशसे मरकर उसके सौधर्म ईशान स्वर्गका पहिला ऋतु नामा इन्द्रक या इसके श्रेणीबद्ध विमानोंमें तथा उसके मध्यम अंशसे मरकर सौधर्म ईशानके दूसरे पटलके विमल नाम इंद्रकसे लगाकर सनत्कुमार माहेन्द्रके अंतिम पटलके नीचे पटलके ब्रह्मभद्र नाम इंद्रक तक विमानोंमें पैदा होते हैं।

कृष्ण लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर जीव सातवें नरकके अवधिनाम इंद्रकविलमें पैदा होते हैं। इसीके जघन्य अंशसे मरकर जीव पांचवे नरकके अंत पटलके तिमिस्र नाम इंद्रकमें तथा मध्यम अंशसे मरकर सातवें नरकके शेष चार बिलोंमें व छटे नर्कके तीन पटलोंमें व पांचवीं एथ्वीके अंतिम पटलमें यथायोग्य उपजते हैं।

नीललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर जीव पांचमी नरकके अंतिम पटलसे पहले पटलके अभ्र नाम इंद्रकमें, व जघन्य अंशसे मरकर तीसरी वालुका एथ्वीके अंत पटलमें संप्रज्वलित नाम इंद्रकमें, व मध्यम अंशसे मरकर वालुका एथ्वीके संप्रज्वलित इंद्रकसे नीचे, चौथी एथ्वीके सात पटलोंमें व पांचमी नरकके अभ्र इंद्रकसे ऊपर पैदा होते हैं।

कापोत लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरकर जीव तीसरी नरकके आठवें पटलके संज्वलित नाम इंद्रकमें, मध्यम अंशसे मरकर पहली पृथ्वीके पहला सीमन्तक नामा इन्द्रकमें, मध्यम अंशसे मरकर इन दोनोंके मध्यमें पैदा होते हैं।

तथा कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशसे मरे ऐसे कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य और तेजोलेश्याके मध्यम अंशसे मरे ऐसे भोगभूमियां मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य तीन प्रकारके भवनवासी, व्यन्तर, व ज्योतिष देवोंमें उपजते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओंके मध्यम अंशसे मरे तिर्यंच या मनुष्य या भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी या सौधर्म ईशान स्वर्गकेवासी देव मिथ्यादृष्टी सो बादर पर्याप्त एकेंद्रियिक, जलकायिक, व वनस्पतिकायिकमें पैदा होते हैं। यहां भवनत्रयादि देवोंके मात्र पीतलेश्यासे व तिर्यंच या मनुष्योंके कृष्णादि तीन लेश्यासे मरण होता है।

कृष्ण, नील, कापोतके मध्यम अंशसे मरे ऐसे तिर्यंच या मनुष्य अग्निकायिक, वातकायिक, विकलत्रय, असैनी पंचेन्द्री, व साधारण वनस्पतिमें उपजते हैं।

तथा सामान्य नियम यह है कि भवनत्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तक देव व पर्याप्त आदि सात प्रकारी मनुष्यनी मारकी अपनी अपनी लेश्याके अनुसार यथायोग्य मनुष्य गति या तिर्यंच गतिको प्राप्त होते हैं। यह भी बात मान लेनी चाहिये कि जिस गतिकी अपनी पहले आयु बंधी हो उस ही गतिमें मरण करके होने वाली लेश्याके अनुसार यह जीव पैदा होता है। जैसे मनुष्यके

पहले देव आयुका बंध भया होय फिर मरण होने पूर्व अशुभ लेश्या हो तो मरनेके पीछे ही वैसा होता है ऐसा ही और स्थानमें भी मानना। पंडित जयचन्दजीके इस कथनसे यह सिद्ध होती है कि मरणके समय जैसा लेश्या परिणाम होगा उसीके अनुसार नहीं पर लेश्या अन्तर्मुहूर्त आगामें संक्रमण करी पर भी जायगा। ऐसा जानकर मुमुक्षु जीवको उचित है अशुभ लेश्या सम्बन्धी भावोंको त्यागकर शुभलेश्या सम्बन्धी भाव करे। सबसे उचित भाव शुक्ललेश्याके हैं। इस भावकी प्राप्तिके लिये हमें अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका विचार करना चाहिये। शुद्ध वीतराग भावकी भावना ही भावोंको उत्तम बनानेवाली है।

जैसा श्री अमितिगति महाराजने सामायिक पाठमें कहा है-

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः।
कायेनापि विलक्षणाप्तहृदयाः प्राप्ताहयकं कुर्वते॥
तप्यंते परदुष्करं सुतपस्यन्त्यपि ये निस्पृहा।
जन्माराण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम्॥

भावार्थ—जो महात्मा अपने आत्मामें शील व संयमके भारसे पूर्ण हैं, अन्य पदार्थोंकी सहायताके त्यागी हैं, शरीरसे यद्यपि सहायता लेते हैं तथापि उसमें भी जिनका चित्त उदास है, जो घोर कठिन तपस्या करते हैं तब भी उस तपमें वैरागी हैं वे ही इस महाभयकारी संसारवनको उल्लंघन कर मोक्षको पहुंच जाते हैं।

उत्थानिका—आगे पूर्वमें जो जीव पदार्थका कथन किया है उसीका संकोच व्याख्यान करते हुए संसारी और मुक्तके भेदोंको बताते हैं—

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२८॥

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिताः।
देहविहीनाः सिद्धाः भव्याः संसारिणोऽभव्याश्च ॥ १२८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एदे) ये (जीवणिकाया) जीवोंके समूह (देहप्पविचारम्) शरीरमें वर्तनारूप (अस्सिदा) आश्रय करनेवाले अर्थात् शरीरके द्वारा व्यापार करनेवाले (भणिदा) कहे गए हैं (देहविहूणा) जो शरीरसे रहित हैं वे (सिद्धा) सिद्ध हैं। (संसारिणो) संसारी जीव (भव्वा) भव्य (य) और (अभव्वा) अभव्य (य) प्रकारके हैं।

विशेषार्थ-निश्चय नयसे देखा जावे तो सर्व जीव शुद्ध आत्मस्वरूपके धारी हैं, केवलज्ञानमई चैतन्य शरीरके स्वामी हैं या कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरके स्वामी हैं तथा कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले शरीरसे रहित हैं। व्यवहारनयसे जो शरीरमें आश्रित वे संसारी हैं, जो शरीर रहित हैं वे सिद्ध हैं। सिद्धोंकी साधना शुद्ध आत्माकी प्राप्ति है। संसारी जीवोंमें कोई भव्य है, कोई अभव्य है जिनमें सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंकी प्रगटता रूप शक्ति है वे भव्य हैं जिनमें ऐसी शक्ति नहीं है वे अभव्य हैं-जैसे पकने योग्य [illegible] और पकने योग्य [illegible] भावकी प्रगटता [illegible] है, यद्यपि [illegible] वर्णना इसमें [illegible] कि सम्यग्दर्शनके [illegible] होना है वह जिसमें [illegible]

भव्य अभव्यकी पहचान हम अल्पज्ञानियोंको होना कठिन है अतएव हमको अपने आपको भव्य ही मानकर धर्मसाधनका व सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना योग्य है। हमारा उपाय वृथा निरर्थक न जायगा—कषायोंकी मंदतासे पापका नाश तथा पुण्यका लाभ तो होही जायगा जिससे हमारा भविष्यका जीवन नरकादि रूप न होकर स्वर्गादिमें सातारूप होगा। यदि हम भव्य होंगे हमको अपने आत्माकी यथार्थ प्रतीति हो जायगी तथा स्वात्मानुभवका भी लाभ होगा।

इस पुरुषार्थी जीवको सदा उद्यमशील होना योग्य है—श्री कुन्दकुन्द आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम्।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥ ७ ॥
आत्मानं सततं रक्षेज्ज्ञानध्यानतपोबलैः।
प्रमादिनोऽस्य जीवस्य नीलरत्नं विलुप्यति ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म पानेका यही सार फल है, जो ज्ञानकी सेवा की जाय तथा अपने वीर्यको न छिपाकर संयमका धारण किया जावे। अपने आत्माको सदा ही ज्ञान ध्यान व तपके बलसे रक्षित रखना चाहिये—जो जीव प्रमादी होता है उसका नीलरत्न [illegible] हो जाता है।

[illegible] ग्रन्थ [illegible] ग्रन्थकी रचना [illegible] पूर्ण हुआ। [illegible] लक्षण पद है इस [illegible] रूपमें "निर्दिष्य [illegible] इस वृत्तमें [illegible] इन्द्रियोंके अतिरिक्त [illegible] मन भी [illegible] है। इस [illegible] लक्षणका दृष्टान्त देते हैं। जैसे किसीने कहा, कि [illegible]

स्वाभाविक शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य दिलाता है। यह नय बताता है कि यह जीव जो अनेक शरीरोंमें प्राप्त होनेसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, तथा पंचेंद्रिय नाम पाता है या पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक नाम पाता है, वास्तवमें अमूर्तीक है; पूर्णज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त व चारित्र आदि गुणोंसे भरपूर है। सिद्ध परमात्मामें और इस जीवमें स्वभावकी अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं है। व्यवहारमें जैसे घीके सम्बन्धसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं वैसे ही इस जीवको भिन्न २ प्रकारके शरीरके सम्बन्धसे एकेंद्रिय आदि नामसे कहते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्माको यह अच्छी तरह विचार लेना चाहिये कि इंद्रियोंके व कायोंके आकार सब पुद्गल वर्गणाके द्वारा बने हुए हैं, मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं तथा जिन कर्मोंके उदयसे शरीर व इंद्रियें होती हैं वे कर्म भी सूक्ष्म पुद्गल हैं। वे ज्ञानावरणादि आठों ही कर्म मेरे आत्माके स्वभाव नहीं हैं ऐसा दृढ़ एक जीवका स्वभाव समझना चाहिये।

श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

भावार्थ—यह आत्मा स्वानुभवके द्वारा भले प्रकार प्रगट होता है, शरीर प्रमाण आकार रखता है, विनाश रहित है, लोक अलोकको देखनेवाला है तथा अत्यन्त सुखी है।

जितने संसारमें शरीरधारी प्राणियोंके भेष हैं उनके भीतर जीवको पुद्गलमई अवस्थाओंसे भिन्न शुद्ध एकाकार सिद्ध परमात्माके समान देखना चाहिये।

[illegible] एकेन्द्रियादि सूक्ष्म बादरोंमें पर्याप्त अपर्याप्त कहा
जाता है। इसी तरह जीवोंके कर्मोंसे इस जीवके कौनसापना भी है
[illegible] व्यवहारनयसे सूक्ष्म [illegible], अमुक निश्चयनयसे भी
[illegible] है [illegible] इस व्यवहार तथा शुद्ध निश्चयनयसे आत्मीक ज्ञान-
[illegible] है। ऐसा ही कहा है -

"पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

भावार्थ- इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि हम यदि
मार्गमें जीवोंकी पहचान करना चाहें तो इसको किस तरह जीवोंसे
न ऐसा समझ सकेंगे कि अमुक मार्गमें जीव है। क्योंकि जीव
अमूर्तीक है इससे वह नेत्र आदि किसी भी इन्द्रियसे किसी तरह
भी देखा न जाना सकता है। इसलिये यहां आचार्यने ऐसी
दिखाने वाली है [illegible] मार्गोंकी [illegible] हालतानी है।
[illegible] जीवका [illegible] है जैसे पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मा-
स्तिकाय, आकाश तथा काल उनमें व पहचाने नहीं जा सकते हैं।

इनमें [illegible] बंध [illegible] रहा है व [illegible] पुनरा
[illegible] है।

[illegible] कि [illegible] पुतला सब आंख, नाक, कान रखने
पर भी [illegible] नहीं देखा सुन नहीं सकता है तब
[illegible] है पुण्योदय [illegible]
[illegible] है। [illegible] पुतला सब कुछ [illegible]
[illegible] सकता तब वह [illegible] भोग कर सुखी होनेकी

इच्छा करता है। यदि कोई मनुष्य लेकर पुतले और बालकमें नव पुतला वैसा ही खड़ा रहेगा किन्तु बालक उस मनुष्यको दुःखसे भय खाकर भाग जायगा। यह बालक किसी दूसरे बालकको भोजन देकर उसका हित करेगा तथा कभी दुष्ट करके किसी बालकको सताकर रुला देगा—पुतला कुछ भी हित अहित नहीं करेगा। यदि हम मिठाई खिलानेको बुलावें तो व उसी समय आकर खाने लगेगा व इंद्रिय सुख भोगेगा कि पुतला न आयगा न कुछ खायगा। बालकमें, गायमें ऐसे सब लक्षण मिलनेसे जीव है ऐसा निश्चय होजाता है—यदि व कर्मे जीव न होता तो कदापि उसमें ज्ञानशक्ति नहीं काम कर इन पहचानोंसे हम हरएक प्राणीमें जीवकी सत्ताका निश्चय सक्ते हैं। वास्तवमें यह जीव ही कर्ता व भोक्ता है व स्वतंत्र शुभ अशुभ परिणतिका करनेवाला है। यह जीव संसार अवस्था अपने अज्ञानसे दुःख उठाया करता है।

सारसमुच्चयमें कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

ससारे पर्यटन् जंतुर्बहुयोनिसमाकुले।
शारीरं मानसं दुःखं प्राप्नोति बत! दारुणं ॥ २ ॥
आर्त्तध्यानरतो मूढो न करोत्यात्मनो हितं।
तेनासौ सुमहत्क्लेशं परत्रेह च गच्छति ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह जीव अनेक योनियोंसे भरे हुए संसा घूमता हुआ भयानक शारीरिक और मानसिक दुःख भोग है। जो मूर्ख प्राणी आर्त्तध्यानमें रत होजाता है वह आत्मा सच्चा हित नहीं कर सक्ता है। इसीलिये यह जीव य और परलोकमें महान् क्लेश उठाता है। इस तरह भेद भावना

रूप शुद्धामृत रसका अनुभव होता है व उस अनुभवसे समरसी भाव होता है इत्यादि शुद्ध परिणमन रूप भेद हैं इन सबके द्वारा जीवको समझो। उसके पीछे अजीव पदार्थोंको ज्ञानसे अतिरिक्त सद्रूप गुणोंके द्वारा जानो—जिनका स्वरूप आगे कहेंगे ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—यहां आचार्यने बताया है कि व्यवहारनयसे पुद्गलके सम्बन्धसे जितनी प्रकारकी अवस्थाएं इस जीवकी होती हैं उनका स्वरूप आगम द्वारा अच्छी तरह जान लेना चाहिये जिससे यह ज्ञान भीतर झलक जावे कि ये सब पर्याएं जीवकी शुद्ध परिणतिमें नहीं हैं किन्तु कर्मोंसे उत्पन्न हुई औपाधिक परिणाम व विभाव भाव हैं। कारण यह है कि एक मुमुक्षुको जीवका असल स्वभाव जान लेना उचित है। वह विना जीवकी कर्मकृत उपाधियोंके जाने हुए ठीक२ नहीं जाना जा सक्ता है। संसारी जीवोंकी १४ मार्गणाएं बहुत आवश्यक हैं। ये ऐसी अवस्थाएं हैं कि जिनमें हरएकमें संसारी जीव प्रायः पाए जाते हैं—

गइ इंदिय च काये जोए वेए कसाय णाणेय।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥२॥

(१) चार गति, (२) पांच इंद्रिय (३) छ पृथ्वी आदि काय (४) १५ योग (५) तीन वेद (६) ४ कषाय (७) ८ ज्ञान (८) ७ संयम (९) ४ दर्शन (१०) ६ लेश्या (११) २ भव्य (१२) ६ सम्यक्त (१३) २ संज्ञी (१४) २ आहार। यदि हम चार गतियोंमें संसारी जीवोंको तलाश करेंगे तो सब मिल जावेंगे, कोई भी संसारी जीव इन गतियोंसे बाहर नहीं है। इसी तरह

ांच इंद्रियोंमें भी मिल जावेंगे क्योंकि सब संसारी जीव एकेन्द्रियसे चेंद्रियतकमें गर्भित हैं। एथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति न ५ स्थावरोंमें एकेन्द्रिय जीव तथा छठी त्रसकायमें न्द्रियसे पचेंद्रिय तक सब जीव मिल जावेंगे—योग मनके ार सत्य, असत्य, उभय, अनुभव, वचनके चार सत्य, असत्य, उभय, नुभय तथा कायके सात औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, क्रियिक मिश्र, अहारक, आहारक मिश्र तथा कार्मण इन १५ ोगोंमेंसे एकेंद्रियके औदारिककाय व औदारिक मिश्र, द्वीन्द्रियसे ीन्द्रिय तक तिर्यंचोंमें अनुभय वचन, औदारिककाय व औदारिक मेश्र, पंचेन्द्रिय असैनी तिर्यंचोंमें भी यही तीन योग हैं—पचेंद्रि-ासैनी तिर्यंच व मनुष्योंमें मन, वचनके आठ व औदारिककाय, ौदारिक मिश्र ऐसे १० योग हैं परन्तु मुनियोंके किन्ही ऋद्धि-ारियोंके आहारक व आहारकमिश्र भी होता है। नारकियों व वोंमें ८ मन, वचनके व कायके दो वैक्रियिक काय व वैक्रियिक मेश्र काय ऐसे १० योग हैं—विग्रह गतिमें सब जीवोंके एक ार्मण योग ही होता है। जब कोई जीव किसी शरीरकी पर्याप्ति र्ण करता है उसके अन्तर्मुहूर्त तक शरीरकी रचनाकी योग्यता न ात हो तबतक औदारिक मिश्र व वैक्रियिकमिश्र व आहारकमिश्र ोग होता है। तीन वेदोंमें देवोंके स्त्री व पुरुष दो ही वेद होते ।नारकियोंके व एकेन्द्रियसे लेकर चौइन्द्रिय तक सब नपुंसक वेदी ोते हैं। पचेंद्रिय, तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं। यह ागी सामान्यसे सब ही भंग हैं।

कषायके मूल भेद चार व उत्तर भेद २५ हैं। इन कषायोंमें

कषायके कर्मोंके रसको अप्रत्याख्यानावरणादि रूप पलटि देता है फिर यदि तीनों मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंका क्षय कर सके तो क्षायिक सम्यग्दृष्टी होजाता है। यदि यहां तीनोंका उपशम ही करे तो द्वितीय उपशम सम्यग्दृष्टी होजाता है। सातवेंसे आगे दो मार्ग हैं—एक उपशमश्रेणी, दूसरी क्षपकश्रेणी। जो उसी जन्मसे मोक्ष जानेवाले साधु हैं वे क्षायिकसम्यग्दृष्टी ही २१ कषायोंको क्षय करनेके लिये क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं जिसके चार गुणस्थान हैं। अपूर्वकरण आठवां, अनिवृत्तिकरण नौवां, सूक्ष्मसाम्पराय दसवां और क्षीणमोह बारहवां। जो इस श्रेणीमें नहीं चढ़ सक्ते हैं वे उपशम श्रेणीमें चढ़ते हैं इसके भी चार गुणस्थान हैं, तीन तो वे ही आठवां, नौमा और दसवां और चौथा उपशांत मोह ग्यारहवां। क्षपकश्रेणीवाला ११ वेंमें नहीं आता है। नौमें गुणस्थान तक उपशम श्रेणीवाला शुक्लध्यानके बलसे २१ कषायोंमेंसे २० को उपशम कर व क्षपकश्रेणीवाला इनका क्षयकर मात्र सूक्ष्म लोभके उदयसे दसवें गुणस्थानमें आजाता है। इस लोभको भी उपशम कर उपशमवाला ग्यारहवेंमें व इसका क्षयकर क्षपकवाला बारहवेंमें आजाता है। ग्यारहवेंमें अंतर्मुहूर्त पीछे अवश्य कषायका उदय आजाता है तब वह साधु क्रमसे गिरकर सातवेंमें फिर आजाता है, दुबारा एक दफे फिर चढ़ सक्ता है और गिर सक्ता है। इस उपशम श्रेणीमें द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टी दोनों हो सक्ते हैं—आठवें व नौवें व दसवें गुणस्थानमें मात्र अंतर्मुहूर्त समय निर्मल होते जाते हैं। आठवेंसे लेकर ११ वें तकके गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त भी व मिलकर भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। ११ वें वाला गु-

भावार्थ-ज्ञानी आत्मा लक्षणोंके द्वारा जीवसे अजीव भिन्न जानकर अपने आत्माको प्रकाशमान रूप अनुभव करता है अज्ञानी जीवके चित्तमें विना मर्यादाके चला आया हुआ यह मैं क्यों नृत्य कर रहा है यही बड़ा आश्चर्य है।

इस तरह जीव पदार्थके व्याख्यानका संकोच व अजीव पदार्थके व्याख्यानके प्रारम्भकी सूचनारूप एक सूत्रसे छठा स्थल पूर्ण हुआ। पहले जैसा कह चुके हैं "जीवाजीवा भावा" इत्यादि नौ पदार्थोंके नामको कहते हुए स्वतंत्र गाथा सूत्र एक है। फिर जीव पदार्थका व्याख्यान करते हुए छः स्थलोंसे १५ सूत्रोंके द्वारा कहा है। इस तरह १६ गाथाओंमें नव पदार्थोंको कहनेवाले दूसरे महा अधिकारमें दूसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

पीठिका-आगे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा मतिज्ञान आदि विभावगुण व नर, नारक आदि विभावपर्यायोंसे रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप तथा जीव आदि नौ पदार्थोंके भीतर प्राप्त यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध समयसार नामधारी व ध्यान करने योग्य जो शुद्ध जीव पदार्थ है उससे विलक्षण जो अजीव पदार्थ है उसका व्याख्यान चार गाथाओंमें करते हैं। इन चार गाथाओंके मध्यमें अजीव तत्वके कहनेकी मुख्यतासे 'आयासकाल' इत्यादि पहले कहने गाथा तीन हैं। फिर भेदकी भावनाके लिये देहमें प्राप्त शुद्ध जीवका कथन करते हुए "अरसमरूवं" इत्यादि गाथा एक है। इस तरह चार गाथाओंके दो स्थलोंके द्वारा अजीव तत्वके अधिकारमें व्याख्यान करते हुए समुदायपातनिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि आकाश आदि द्रव्य अजीव हैं—

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥११२॥

आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु) आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मास्तिकाय द्रव्य, अधर्मास्तिकाय द्रव्य इन पांच प्रकारके अजीव द्रव्योंमें (जीवगुणा) जीवोंके विशेष गुण (णत्थि) नहीं हैं (तेसिं) इनमें (अचेदणत्तं) अचेतनपना (भणिदं) कहा गया है (जीवस्स) जीवका गुण (चेदणदा) चैतन्य है।

विशेषार्थ—एक समयमें तीन जगत तीन कालके सर्व पदार्थोंको जानना यह जीवका चेतनपना स्वभाव है। यह स्वभाव अजीव द्रव्योंमें नहीं है इसीसे ये सब अचेतन हैं, मात्र जीव चेतन है।

भावार्थ—इस जगतमें चेतन और अचेतनपना दो [illegible] इसीलिये द्रव्य समूहके दो भेद होते [illegible] सत्ता है वह भाव है तथा जिसमें चेतनपना [illegible] । ये अजीव [illegible] रस, गंध, वर्ण ये चार गुण [illegible] ने, इनमें, अपने [illegible] व पुद्गल है। पुद्गलमें सूक्ष्म [illegible] मारी इंद्रियोंके गोचर नहीं है [illegible]

देखनेमें होती है। ये सब पुद्गलद्रव्य हैं, पुद्गलद्रव्य भरे हैं। जीव भी सर्वत्र लोकमें हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय हमारी इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं सर्व स्थानमें इस लोकमें जीव और पुद्गल दो द्रव्य हलनचलन करते हुए दिखते हैं। इनकी उपादान या मूल शक्तिसे चार कार्य होते हुए होते हैं—चलना, ठहरना, स्थानपाना और अवस्थाओंको धरणरूप कार्यके लिये उपादान और निमित्त सहायक कारणकी अपेक्षा है इसलिये इन चार कार्योंके लिये सर्वथा आवश्यक निमित्तकारणरूप अन्य चार अजीव द्रव्य हैं। उदासीनरूपसे सहकारी तीनलोक व्यापी अमूर्तीक धर्मद्रव्य चलनेमें उदासीन रूपसे सहकारी तीन लोक व्यापी अमूर्तीक द्रव्य है। स्थान देनेमें सहकारी आकाशद्रव्य है जो सर्व व्यापक सहित है। अवस्थाओंके बदलनेमें सहकारी कालद्रव्य है जो कालाणु असंख्यात हैं जो लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंमें एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणु रूपसे ठहरे हुए हैं।

इस तरह ये पांच ज्ञानशक्तिसे शून्य हैं। इनसे भिन्न जीव द्रव्य ज्ञानानंदमई है ऐसी भावना परम कल्याणकारिणी है ऐसा योगीन्द्रदेव योगसारमें कहते हैं—

एह ववहारें जिणवरिंदि जंप पयत्थ वि सत्त।
णवहारें जिणवरमुणिवि अप्पिवंदि परमत्थ॥ ४॥
एयइ भणेविणु अप्पि तिण एक्कु णिरंजणु सारु।
जो झायंतिण परम मुणि लहु पावइ भवपारु॥ ५॥

भावार्थ जिनेन्द्र भगवान्ने व्यवहारनयसे जो ये सात तत्त्व कहे हैं उनको भी परम पूर्ण ज्ञानमई

कार्माण शरीरके स्कंध हैं वे भी सब पुद्गलसे रचे हुए हैं अतएव आत्माके निर्मल स्वभावसे भिन्न हैं। जो जगतमें रंग देखनेमें आते हैं, रस स्वादनेमें आते हैं, ठंडा, गरम आदि स्पर्श छूनेमें आते हैं, गंध जाननेमें आती हैं ये चारों ही पुद्गलके गुण हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न हैं, शब्द भी पुद्गलमई भाषा वर्गणाकी पर्याय है अतएव आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न है। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, शुद्ध चैतन्यमई व परमानन्द स्वरूप है। यद्यपि जीव और पुद्गलके संयोगसे जीवके गुण बिलकुल गुप्त सदृश होरहे हैं तथापि लक्षण भेदसे भिन्न ही झलकते हैं। वास्तवमें पुद्गलमई शरीरोंके अंदर जीव इसी तरह छिपा है जिस तरह तिलोंमें तेल, बादामें अग्नि व कठोर ईखमें रस छिपा रहता है। जो इन तीनोंको पहचानते हैं वे तिलोंको नष्ट कर भीतरसे तेल निकाल लेते हैं, बादामको घिसकर अग्नि प्रगट कर लेते हैं, ईखोंको पेलकर रसामृत निकाल लेते हैं। इसी तरह जो भेदविज्ञानी जीव अपने शरीरमें तिष्ठे हुए शुद्ध आत्मारामको पहचानते हैं वे ध्यानके बलसे एक दिन इस शरीरसे अपने आत्माको बिलकुल जुदा कर लेते हैं वास्तवमें जिनको दो मिले हुए पदार्थोंमें उनके भिन्न २ स्वरूपका ज्ञान है वे ही युक्ति या प्रयोगसे एकको दूसरेसे भिन्न कर सके हैं।

श्री अमितगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्वयातेरितो।
विस्पष्टाकृतसंयतत्वसमिधो विद्याप्यसि॥
दग्धोत्तप्तिमनुत्तमस्तनिहनैर्दाप्यते सर्वदा।
नाशयं [illegible] निश्चयितार्थानिश्चिनु कस्य ते॥

[illegible] साधुओंकी ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दर्शनरूपी

कार्माण शरीरके स्कंध हैं वे भी सब पुद्गलसे रचे हुए हैं अतएव आत्माके निर्मल स्वभावसे भिन्न हैं। जो जगतमें रंग देखनेमें आते हैं, रस स्वादनेमें आते हैं, ठंडा, गरम आदि स्पर्श छूनेमें आते हैं, गंध सूंघनेमें आती है ये चारों ही पुद्गलके गुण हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न हैं, शब्द भी पुद्गलमई भाषा वर्गणाकी पर्याय है अतएव आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न है। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, शुद्ध चैतन्यमई व परमानन्द स्वरूप है। यद्यपि जीव और पुद्गलके संयोगसे जीवके गुण बिलकुल गुप्त सदृश होरहे हैं तथापि लक्षण भेदसे भिन्न ही झलकते हैं। वास्तवमें पुद्गलमई शरीरके भीतर जीव इसी तरह छिपा है जिस तरह तिलोंमें तेल, बांसमें अग्नि व कठोर ईखमें रस छिपा रहता है। जो इन तीनोंको पहचानते हैं वे तिलोंको नष्ट कर भीतरसे तेल निकाल लेते हैं, बांसोंको घिसकर अग्नि प्रगट कर लेते हैं, ईखोंको पेलकर इक्षुरस निकाल लेते हैं। इसी तरह जो भेदविज्ञानी जीव अपने ही शरीरमें छिपे हुए शुद्ध आत्मारामको पहचानते हैं वे ध्यानके बलसे एक दिन इस शरीरसे अपने आत्माको बिलकुल जुदा करलेते हैं। वास्तवमें जिनको दो मिले हुए पदार्थोंमें उनके भिन्न स्वरूपका ज्ञान है वे ही युक्ति या प्रयोगसे एकको दूसरेसे भिन्न कर सके हैं।

श्री अमितगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं—

येषां ज्ञानकृशानुदग्धबलतः सम्यक्त्वयोतेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिर्दग्धे विपाकैधसि॥
दत्तोत्तप्तमनन्तमस्ततिहतेर्दीप्यते सर्वदा।
साध्यं स्वर्यति विश्वचरिताभ्यर्चिश्चिदः कस्य ते॥ ६५

भावार्थ—जिन साधुओंकी ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दर्शनरूपी

कार्माण शरीरके स्कंध हैं वे भी सब पुद्गलसे रचे हुए हैं अतएव आत्माके निर्मल स्वभावसे भिन्न हैं। जो जगतमें रंग देखनेमें आते हैं, रस स्वादनेमें आते हैं, ठंडा, गरम आदि स्पर्श छूनेमें आते हैं, गंध जानेमें आती हैं ये चारों ही पुद्गलके गुण हैं, आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न हैं, शब्द भी पुद्गलमई भाषा वर्गणाकी पर्याय है अतएव आत्माके स्वभावसे बिलकुल भिन्न है। आत्मा तो अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, शुद्ध चैतन्यमई व परमानन्द स्वरूप है। यद्यपि जीव और पुद्गलके संयोगसे जीवके गुण बिलकुल गुप्त रहते होते हैं तथापि लक्षण भेदसे भिन्न ही झलकते हैं। वास्तवमें पुद्गलमई शरीरोंके भीतर जीव इसी तरह छिपा है जिस तरह तिलोंमें तेल, कांचमें अग्नि व कठोर ईखमें रस छिपा रहता है। जो इन तीनोंको पहचानते हैं वे तिलोंको नष्ट कर भीतरसे तेल निकाल लेते हैं, कांचको घिसकर अग्नि प्रगट कर लेते हैं, ईखोंको पेलकर रसरस निकाल लेते हैं। इसी तरह जो भेदविज्ञानी जीव अपने ही शरीरमें स्थित हुए शुद्ध आत्मारामको पहचानते हैं वे ध्यानके बलसे एक दिन इस शरीरसे अपने आत्माको बिलकुल जुदा कर लेते हैं। वास्तवमें जितने भी मिले हुए पदार्थोंमें उनके मिलन स्वरूपका ज्ञान है वही योग या पदार्थोंसे एकको दूसरेसे भिन्न कर लेना है।

श्री अमितगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं -

येषां ज्ञानकृशानुदीपनबलात् स्वात्मस्वभावोदितो ।
विस्पष्टाकृतयस्त्रयस्त्रिभुवनद्रव्येषु विद्योतते ॥
ध्यानध्वंसितसर्वकर्मनिचयो ध्वस्तोरुमोहोदयो ।
ध्यायेत् स्वस्थमनाः स्थिरीकृतसमाधिर्तिं जिनं तं सदा ॥

भावार्थ-जिन साधुओंने ज्ञानरूपी अग्निके सदुपयोगसे

पदार्थोंसे भेदित हो अर्थात् प्रकाशमान है व जिस शक्तिसे आपको तथा दूसरोंको जानता है इस कारण वही ज्ञानादि गुणोंको प्रगट करनेवाला है व जिसके गुणमें अज्ञान कभी प्रवेश नहीं होता है इसलिये उसका और नाम सदा ही प्रकाशमान है ऐसे उत्कृष्ट शक्तिके धारीवाले मुनिगण किसको आराधनेवाले न होंवें।

इस तरह पुद्गल आदि पांच द्रव्य अजीव हैं इस प्रकार सूत्रपनामे तीन गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-शिष्यने प्रश्न किया कि जब संस्थान आदि जीवका स्वरूप नहीं है तब जीवका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं-

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१२४॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ १२४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवम्) इस जीवको (अरसम्) रसगुण रहित, (अरूपम्) वर्णगुण रहित, (अगंधं) गंध गुणरहित (अव्यक्त) अप्रगट, (असद्दं) शब्द पर्याय रहित (चेदणा गुणम्) चेतनागुण सहित, (अलिंगग्गहणं) इन्द्रियादि चिन्होंसे नहीं ग्रहने योग्य तथा (अणिद्दिट्ठसंठाण) पुद्गलमई किसी विशेष आकारसे रहित (जाण) जानो।

विशेषार्थ-यह जीव न तो रसगुण सहित पुद्गल द्रव्य है, न रस गुण मात्र है न रसको ग्रहण करनेवाली पुद्गलमई जिह्वा नामकी द्रव्य इंद्रियरूप है और न यह जिह्वा इंद्रियके द्वारा अपनेको व

दूसरोंको रस ग्रहणके समान ग्रहण योग्य या जानने योग्य है - अर्थात् जैसे जिह्वासे रसको जान सक्ते हैं वैसे आत्माको नहीं जान सक्ते हैं और न यह आत्मा निश्चयनयसे द्रव्य इंद्रियके द्वारा स्वयं रसको जानता है। भावार्थ-निश्चयनयसे आत्मा स्वयं बिना किसीकी सहायताके स्वपर द्रव्यको जाननेवाला है। द्रव्येन्द्रियके द्वारा परोक्ष ज्ञान है सो कर्म बन्धरूप अशुद्ध विभाव अवस्थाकी अपेक्षासे है। इसी ही प्रकार यह जीव रसके आस्वादको जाननेवाली क्षयोपशम रूप जो भाव इन्द्रिय है उस रूप भी निश्चयसे नहीं है तथा जैसे भावेंद्रियके द्वारा अपनेको या दूसरेको रसका ज्ञान होता है वैसा आत्माका ज्ञान नहीं होसक्ता है और न यह भावेंद्रियके द्वारा ही निश्चयसे रसका जाननेवाला है तथा यह जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले अखंड एकरूप प्रकाशमान जो केवलज्ञान उस स्वरूप है इसलिये निश्चयसे यह उस खंड ज्ञानरूप नहीं है जो ज्ञानरसको आस्वादन करनेवाली भावेंद्रियके द्वारा कार्यरूप, रसका ज्ञानमात्र रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही यह आत्मा अपनी ज्ञानशक्तिसे रसको जानता है परन्तु उस रस रूप जैसे तन्मय नहीं होता है। इत्यादि हेतुओंसे यह जीव अरस है। इसी ही तरह यह जीव वर्ण, गंध, शब्द, स्पर्शसे रहित है। इनमें भी रसकी तरह सर्व व्याख्यान समझना योग्य है। तथा जैसे क्रोध, मान, माया लोभके चतुष्क, मिथ्ात्व व रागादिसे परिणमन करनेवाले सब जैसे आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे रहित जीवोंको प्रगट अनुभवमें है वैसे इनको यह परमात्मास्वरूप न व नहीं होसक्ता है इसलिये यह अरूप है। यह जीव निश्चयसे समस्त दुःख आदि व इनके कारण या आकारोंसे रहित अखंड

प्रकाशमान परमात्मरूप है इसलिये इसमें पुद्गलोंके उदयसे होने मनन्तुरूप आदि छः संस्थान नहीं हैं। इसलिये यह जीव संस्थान रहित है तथा जैसे अशुद्ध आत्मा यह अनुमान ज्ञान परोक्ष ज्ञानके द्वारा व्यवहारनयसे "उसीतरह परमात्मा जिस तरह धूमसे अग्निका अनुमान करते हैं। जैसे यह शुद्धात्मा यद्यपि रागादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानसे उत्पन्न परमानंदमई अनाकुलतामें भले प्रकार स्थित सच्चे सुखामृत जलसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए परम योगियोंको प्रत्यक्ष है तथापि जो ऐसे योगी नहीं हैं उनको प्रत्यक्ष अनुभवमें नहीं आता है इसलिये यह जीव अलिंग ग्रहण है तथा यह जीव केवलज्ञान मई शुद्ध चेतना गुण सहित है इसलिये चेतनारूप है जैसा कि नीचेके श्लोकमें कहा है—

यत्सर्वाणि चराचराणि विविधद्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा॥
जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

भावार्थ—जो सर्व चर अचर नानाप्रकार द्रव्योंको, उनके गुणोंको, उनकी भूत, भविष्य व वर्तमान सर्व पर्यायोंको सर्व प्रकारसे सदा ही एकसाथ हरएक क्षण जानता रहता है वह सर्वज्ञ कहा जाता है। उस सर्वज्ञ, जिनेश्वर तथा महान वीर भगवानको नमस्कार हो।

हे शिष्य! ऊपर कहे प्रकार गुणोंसे विशिष्ट शुद्ध जीव पदार्थको जानो, यह भाव है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने जीवका वास्तविक स्वरूप बता दिया है। ऊपरके व्याख्यानसे यह स्पष्ट है कि यह जीव शुद्ध ज्ञान चेतनामई तथा अमूर्तीक होनेसे किसी भी पुद्गलमई

वेत्रसे व रागद्वेषरूप विभाव भावसे जाना नहीं जासक्ता, यह तो स्वसंवेदनगोचर है। जो ज्ञानी जीव अपने उपयोगको सर्व ज्ञेय पदार्थोंसे हटाकर व राग, द्वेष, मोहके विकल्पोंसे शून्य कर व एकाग्र होकर अपनेको ही देखता है उसी ही ज्ञानी महात्माको भावश्रुत-ज्ञानके द्वारा इस आत्माका प्रत्यक्ष होता है। साधारण व्यक्ति शास्त्रोंके द्वारा एक संकेत मात्र आत्माको उसी तरह मानते हैं जिस तरह किसी परदेशमें पैदा होनेवाले फलका ज्ञान किसीको शब्दोंके द्वारा कराया जावे। वह उस फलकी मिठता आदिके गुणोंको समझ तो जाता है परन्तु उसको उस फलके चक्खे बिना या देखे बिना उसका सच्चा स्वाद व सच्चा स्वरूप नहीं मालूम होसक्ता है। जब फल उसके पास आयगा और वह चक्खेगा तब ही वह उसका सच्चा बोध प्राप्त करेगा। इसी ही तरह मात्र शास्त्रके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान नहीं होता है। जब उपयोगको थिर करके पुनः पुनः आत्मस्वरूपको विचारा जायगा तब बहुत कालके अभ्यासमें जब उपयोग उस सूक्ष्म द्रव्यको पकड़ लेगा तब उसका अनुभव होगा। उसी समय आत्माका स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होगा। साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान आत्माका सिवाय सर्वज्ञके और किसी अन्यज्ञ महात्माको भी नहीं होसक्ता है, परंतु भेदज्ञानके द्वारा आत्माका शुद्ध स्वरूप [illegible] अनुभवका विषय होजाता है, इसीको स्वानुभव कहते हैं, इसीको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। यही ज्ञान योगियोंके लिये अभेद-रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग है। यही वह जहाज है जिसपर चढ़कर कर्मबंधमई संसारको पार कर यह जीव शुद्ध स्वभावकी प्राप्तिरूप

मोक्षभावको पा लेता है। यहां आचार्यने इस आत्माको खंड ज्ञानसे रहित अखंड एक सामान्य ज्ञानाकार भावका ही विषय माना है। विना मनन किये तथा परपदार्थोंसे मोह हटे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता है। जैसे झूठे व सच्चे रत्नकी पहिचान वारवार परीक्षाके अभ्याससे ऐसी दृढ़ होजाती है कि फिर वह परीक्षक देखने मात्र ही सच्चे झूठे रत्नको जैसाका तैसा समझ लेता है उसी तरह पुनः पुनः अभ्यासकी दृढ़तासे ही आत्माका लाभ होता है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्रने समयसारकलशामें कहा है:—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन।
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते॥
तदयमुदयदात्मा राममात्मानमात्मा।
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥ ३६॥

भावार्थ—जिस तरह बने लगातार भेदज्ञानके अभ्याससे जिसको निश्चयसे शुद्ध आत्माका अनुभव होजाता है वह आत्मा प्रकाशमान आत्माके उपवनमें पहुंचकर पर पदार्थकी ओर परिणतिके रुक जानेसे शुद्ध स्वभावको ही प्राप्त कर लेता है।

श्री योगीन्द्रदेव योगसारमें कहते हैं—

इक्कलउ इन्दिय रहिउ मणवयकाय ति सुद्धि।
अप्पा अप्प मुणेहि तुहुं लहु पावइ सिवसिद्धि॥ ८५॥

भावार्थ—तू मन वचन काय शुद्ध करके इंद्रियोंके विषयोंसे रहित हो व अकेलापना पाकर अपनेसे ही अपने आत्माको मनन कर तो तू शीघ्र ही मोक्षकी सिद्धि प्राप्त कर सकेगा।

इस तरह भेद भावनाके लिये सर्व प्रकारसे ग्रहण करने

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। सुख ग्रहण करने योग्य तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्षके कारण संवर और निर्जरा दो पदार्थ हैं। इन दोनोंके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इस तरह पूर्वमें कहे हुए जीव और अजीव दो पदार्थोंको लेकर आगे कहने योग्य पुण्य, पाप आदि सात पदार्थोंके साथ दोनों मिलकर समुदायसे नौ पदार्थ होजाते हैं। इस तरह नव पदार्थोंकी स्थापनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

उत्थानिका–इसके आगे जो किसी अपेक्षासे जीव और पुद्गलको परिणमन शक्तिधारी कहकर उनका संयोग भाव सिद्ध किया गया है यही संयोग आगे कहने योग्य पुण्य, पाप आदि सात पदार्थोंका कारण या बीज है ऐसा जानना चाहिये। इनको तीन गाथाओंमें बताते हैं—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२६॥
गदिमधिगदस्सदेहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२७॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

[illegible]

कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रयमें ठहरनेको असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म स्वरूप अर्हंत व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु इनकी पूर्ण व विशेष भक्ति करता है जिससे वह संसारके नाशके कारण व परम्परासे मुक्तिके कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष पुण्य प्रकृतियोंको बिना इच्छाके व निदान परिणामके बांध लेता है। इन प्रकृतियोंका बंध अभिप्रायी भी पुण्य बंधका कारण है इस तरह यह पुण्य पदार्थका कर्ता होता है। इस प्रकारसे अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बन्ध इन चार पदार्थोंका कर्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा, व मोक्ष इन तीन पदार्थोंका मुख्यपने कर्ता है ऐसा भाव है।

भावार्थ—इन तीन गाथाओंमें आचार्यने यह बात सिद्ध की है कि यह जीव कूटस्थ नित्य नहीं है किन्तु अनेक प्रकार अशुभ, शुभ व शुद्ध परिणामोंको करनेके कारण परिणामनशील है। इस ही यह विचित्र कर्म बांधता उनके फल भोगता है। जीव और कर्मका अनादिकालसे प्रवाह रूप सम्बन्ध चला आता है। इन कर्मोंके कारण [illegible] अशुद्ध भाव होते [illegible] इस आत्माकी है [illegible] बन्धको प्राप्त होता है [illegible] होता है [illegible] दूसरी [illegible] होती है [illegible] भी नवीन कर्म [illegible]

अनुसार किसी अन्य शरीरको प्राप्त कर लेता है। वहां भी
रागद्वेष रूप क्रिया करता रहता है। इस तरह यह अज्ञानी
आत्मज्ञानको न पाकर इस संसारका चक्कर लगाया करता है।
अपने भावोंसे पाप पुण्यका आस्रव व बंध करता हुआ उन ही
पुण्य व आस्रव व बंध पदार्थका कर्ता होजाता है। जब किसी
जीवको भेदज्ञानके बलसे सम्यग्दर्शनका लाभ होता है तब वह पुण्य
पाप, आस्रव, व बंधको त्याग योग्य जानता है इससे इनका मुख्यसे
कर्ता न होता हुआ मोक्षमार्गमें आरूढ़ होनेके कारण तथा मोक्षकी
गाढ़ रुचिके कारण बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है व संसारके
कारणभूत कर्मोंका आस्रव न करके संवर करता है। इस तरह
संवर व निर्जरा पदार्थका कर्ता होता है। यही सम्यग्दृष्टी जब
जब महामुनि हो व मोक्ष साधन योग्य संहननादि सामग्री पाकर
उत्कृष्ट तप करता है तब गुणस्थानोंके मार्गसे क्षपकश्रेणीपर आरूढ़
होकर चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवली परमात्मा पद प्राप्त कर
कर्मोंका भी नाशकर मोक्ष प्राप्त करलेता है। तब वह मोक्ष पदार्थका
कर्ता होता है। यहां आचार्यने यही बताया है कि यह जीव
अपने भावोंसे पुण्यपाप आदि सात पदार्थोंका कर्ता है।
संसारके प्रकरणमें अनेक संसारी व संसार होते हैं व इंद्रियोंके सुखोंमें
कभी तृप्ति नहीं होती है किंतु इन ही इंद्रिय, विषय व कषा-
योंके कारण यह जीव पापका तो महान् आस्रवबंध करता है। इसलिये विद्वान
को उचित है कि वह संसार
[illegible]

समय बहुत अल्प है उसको सफल करे, मरा न सतावे उसके पहले ही स्वहित कर लेना योग्य है। सारसमुच्चयमें कहा है:-

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य यावच्चेन्द्रियसम्पदः।
तावद्धर्मे तपः कर्तुं वार्धक्ये केवलं श्रमः ॥ ८७ ॥
धर्मकार्ये मतिस्तोयबुद्बुदायुर्दृढं तव।
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥ ८८ ॥

भावार्थ-जबतक शरीरमें तंदुरस्ती है व जबतक इंद्रियोंमें शक्ति मौजूद है तबतक तप कर लेना योग्य है। वृद्धावस्थामें मात्र परिश्रम है तब तपकी सिद्धि कठिन है। जबतक आयु दृढ़ है तबतक धर्मकार्यमें बुद्धि करनी योग्य है। जब आयु कर्म क्षय हो जायगा तब तू क्या करेगा?

इस तरह नव पदार्थोंके बतानेवाले दूसरे महाअधिकारके मध्यमें पुण्य पाप आदि सात पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग तथा वियोगरूप परिणतिसे उत्पन्न हुए हैं इस कथनकी मुख्यता करके नौ गाथाओंके द्वारा चौथा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

पीठिका-आगे पुण्य व पापके अधिकारमें चार गाथाएं हैं। इन चार गाथाओंके मध्यमें पहले यह कथन है कि जो भाव पुण्य या भाव पापके योग्य भाव होते हैं वे परमानन्दमई एकस्वभावरूप शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं इस सूचनाकी मुख्यतासे "जोवो ण हवदि" इत्यादि गाथा सूत्र एक है फिर इस व्याख्यानकी मुख्यतासे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप [illegible] द्रव्य या भावरूप पुण्य तथा [illegible] सूत्र एक है। फिर नैयायिक [illegible] तथा पाप दोनोंको मूर्तीक समर्थन करते हुए [illegible]

है। उसी ही आत्माके नाना प्रकार चारित्र मोहका उदय होने
[illegible] न निश्चय वीतराग चारित्र होता है और न व्यवहार व्रत आदिके
परिणाम होते हैं ऐसे जीवके भीतर जो इष्ट पदार्थोंमें प्रीतिभाव
सो राग है और अनिष्ट पदार्थोंमें अप्रीति भाव सो द्वेष है। इस ही
मोहके मंद उदयसे जो मनकी विशुद्धि होना उसको चित्तप्रसाद
कहते हैं। यहां मोह व द्वेष तथा विषयादिमें अशुभराग सो अशुभ
भाव है तथा दान पूजा व्रत शील आदि रूप जो शुभ राग या
चित्तका आल्हाद होना है सो शुभभाव है, यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भाव पाप और भाव पुण्यका
स्वरूप बताया है जो क्रमसे द्रव्यपाप और द्रव्य-पुण्यके बंधके
निमित्त हैं। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण
इस भावके धारी जीवमें पर्याय बुद्धि होती है जिससे यह शरीरमें
और शरीर सम्बन्धी इन्द्रियोंके विषयोंमें और उनके सहकारी पदार्थोंमें
अतिशय रागी लीन होता है। और अपने सांसारिक प्रयोजनकी
सिद्धिके लिये अनेक अन्याय रूप [illegible] भी काम लेता है।
इसलिये सब पापभावोंका मूल [illegible] मिथ्यादर्शनरूप भाव पाप
है। इसीके निमित्तसे [illegible] मनिष्ट [illegible]
द्वेषकी प्रवृत्ति होती है जिससे [illegible] अपने इष्ट पदार्थोंमें तीव्र
राग तथा अनिष्ट पदार्थोंमें तीव्र [illegible] है। कभी २ मिथ्यात्वके
भी मंद मिथ्यात्व [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इस
पूजा व्रत दान [illegible] [illegible] होता है जिससे [illegible]
पुण्यरूप भी होजाता है [illegible] [illegible] [illegible] यह पुण्य
भाव परम्परा पापका ही कारण होता है इसीलिये आचार्योंने

भीतरसे जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तब ही विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है। यह प्रसन्न संतोष भावके घटने और विशुद्ध भाव या ज्ञान बढ़नेके होनेसे होती है। जैसे किसीको दशलक्षण दान देनेसे भीतरसे हर्ष होता है-इसीका नाम चित्तप्रसाद है। जो दुष्ट मनुष्योंके चित्तमें दुःखोंसे दुःखी होते देखकर व विषय-भोगियोंके चित्तमें इन्द्रिय सम्बन्धके विषय मिलनेपर हर्ष होता है वह संक्लेश भावरूप है। और कषाय द्वेष, मोहसे उत्पन्न है सो चित्तप्रसाद नहीं है। जहां कषायकी मंदता होकर बिना किसी बनावटके अंतरंगमें आनन्द होजाता है उसे ही चित्तप्रसाद कहते हैं। योगशास्त्र व ध्यानमें यह चित्तप्रसाद अवश्य होता है इसीसे योगशास्त्रको सुख कहा है।

रागको भी पाप व पुण्य दो रूप कहा है। जहां अप्रशस्त राग है अर्थात् जहां विषयोंके व कषायोंके पुष्ट करनेका राग है, वह पापरूप राग है। तथा जहां प्रशस्त राग है अर्थात् जहां अरहंत, सिद्ध, साधु, जिनधर्म, दान, जिनपूजन, परोपकार आदिका भाव है वह पुण्यरूप राग है। ज्ञानीको यह भावना भानी चाहिये कि यह बंधका हेतु अशुभ और शुभराग दोनों ही मुझसे भिन्न त्यागने योग्य है। एक शुद्ध भाव ही ग्रहण करने योग्य है जो बंधका नाशक व मुझ शुद्धात्माका साधक है-जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्रने समयसार कलशमें कहा है-

सन्त्यस्यन्तु सदा सदात्मनि परं कर्मैव मोक्षार्थिनः।
सन्त्यक्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥

ः कर्मविरहमुद्धरलं ज्ञानं स्वयं धावति॥ १०-३॥

भक्तिराग जीवोंके अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे पहले नहीं माना है, तो भी मिथ्यादृष्टी सातावेदनीय, देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्यकर्मोंका बंध करसक्ता है इसलिये उस द्रव्य पुण्यबंधके हेतुरूप भावपुण्यका होना उसके संभव है। पंचेंद्रिय सैनी जीवके लेश्या भी छहों पाई जाती हैं जिनमें पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएं हैं। इनके परिणामोंसे अधिकतर पुण्य कर्मका बंध होता है। व्यवहारमें पापकर्मका उदय अधिक आकुलताका कारण है जब कि पुण्यका उदय कुछ देर आकुलताके घटानेका कारण है—वर्तमान कालमें उदय आकर पापकर्म पद्म दुःखदाई है तब पुण्यकर्म सुखदाई है। यद्यपि बंधकी अपेक्षा दोनों ही त्यागने योग्य हैं तथापि जबतक मोक्ष न हो तबतक पुण्य कर्मका उदय सहायकारी है तथा मोक्षके योग्य साधनों मिलनेका भी कारण है। इसीलिये पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें बहुत ही अच्छा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

भावार्थ—हिंसा आदि पांच पापोंके त्यागरूप व्रत धारना, सत्य वचन आदि [illegible] है [illegible] [illegible] पुण्य कर्मोंका [illegible] है [illegible] [illegible] देवगतिके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

भाव पदार्थ कहा गया है। इसी तरह यद्यपि निश्चयनयसे ये द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पिंडसे पैदा हुए हैं तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीवके शुभ तथा अशुभ परिणामोंके निमित्तसे हुए हैं। इनमें साता वेदनीय आदि द्रव्य प्रकृतिरूप व असाता वेदनीय आदि द्रव्य पापरूप पुद्गल पिंड है। इनहीको द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप पदार्थ कहते हैं। यह सूत्रका भाव है।

भावार्थ-जीवके तीव्र कषाय रूप भावको भाव पाप तथा मन्दकषाय रूप भाव पुण्य कहते हैं इनके निमित्तसे अघातिया कर्मोंमें दो भेद होजाते हैं। जब पाप भाव होता है तब असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्रका बन्ध होता है। साता वेदनीय आदिका बंध नहीं होता है। जब पुण्य भाव होता है तब सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्रका बंध होता है, असातादिका नहीं होता। किन्तु घातिया कर्मोंका बन्ध दुष्टक कषाय सहित भावमें होगा—भाव पुण्यमें भी होगा, भाव पापमें भी होगा। यद्यपि इन चार घातिया कर्मोंको भी द्रव्य पापमें भीतर ही गिनाया है क्योंकि ये आत्माके मुख्य गुणोंको विकारी कर देते हैं तथापि जब भाव पुण्य रूप मंदकषायके परिणाम होते हैं व इन घातिया कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग कम पड़ता है और जब भाव पापरूप तीव्र कषाय होता है तब इन घातियाकर्मोंमें भी स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ता है। इसीलिये सामान्य वचन कह दिया जाता है कि शुभ भावसे पुण्य व अशुभ भावसे बंध होता है।

भाव पदार्थ कहा गया है। इसी तरह यद्यपि निश्चयनयसे ये द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पिंडसे बँधा हुए हैं तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीवके शुभ तथा अशुभ परिणामोंके निमित्तसे कहे हैं। इनमें साता वेदनीय आदि द्रव्य प्रकृतिरूप व असाता वेदनीय आदि द्रव्य पापरूप पुद्गल पिंड हैं। इन्हींको द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप पदार्थ कहते हैं। यह सूचना भाव है।

भावार्थ-जीवके तीव्र कषाय रूप भावको भाव पाप तथा मन्दकषाय रूप भाव पुण्य कहते हैं इनके निमित्तसे अघातिया कर्मोंमें दो भेद होजाते हैं। जब पाप भाव होता है तब असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्रका बन्ध होता है। साता वेदनीय आदिका बंध नहीं होता है। जब पुण्य भाव होता है तब साटावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्रका बंध होता है, असातादिका नहीं होता। किन्तु घातिया कर्मोंका बन्ध हरएक कषाय सहित भावमें होगा भाव पुण्यमें भी होगा, भाव पापमें भी होगा। यद्यपि इन चार घातिया कर्मोंको भी द्रव्य पापके भीतर ही गिनाया है क्योंकि ये आत्माके मुख्य गुणोंको विकारी कर देते हैं तथापि जब भाव पुण्य रूप मंदकषायके परिणाम होते हैं तब इन घातिया कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग कम पड़ता है और जब भाव पापरूप तीव्र कषाय होते हैं तब इन घातियाकर्मोंमें भी स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ता है। इसीलिये सामान्य वचन ऐसा कह दिया जाता है कि शुभ भावसे पुण्य व अशुभ भावसे पाप बंध होता है।

कुन्दकुन्दस्वामीने समयसारमें कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७॥

भावार्थ—ये सर्व रागद्वेषादि भाव जिनके नहीं होते हैं वे मुनि शुभ या अशुभ कर्मोंसे नहीं बंधते हैं।

और भी कहा है—

ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥ ६८ ॥

भावार्थ—जिस शुभ या अशुभ भावको यह आत्मा करता है उस ही भावका यह आत्मा कर्त्ता होता है। उस ही भावका निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप बन्ध जाता है, ऐसा जानकर बंधसे मुक्त होनेके लिये स्वानुभवका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

इस तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप शुद्धात्मासे भिन्न जो त्यागने योग्य द्रव्य या भावरूप पुण्य तथा पाप हैं उनका व्याख्यान करते हुए एक सूत्रसे दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे यह सिद्ध करते हैं कि इन द्रव्यकर्मोंमें मूर्तीकपना है—

जम्हा कम्मस्सफलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१४१॥

यस्मात्कर्मण फल विषय स्पर्शैर्भुज्यते नियत।
जीवेन सुख दु ख तस्मात्कर्माणि मूर्तानि ॥ १४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जम्हा) क्योंकि (जीवेण) इस जीवके द्वारा (कम्मस्सफलं) कर्मोंका फल, (सुहं दुक्खं) सुख और

दुःख (विसयं) जो पांच इंद्रियोंका विषय रूप है तो (णियदं) निश्चितरूपसे (फासेहिं) स्पर्शनादि इंद्रियोंके निमित्तसे (भुंजदे) भोगा जाता है (तम्हा) इसलिये (कम्माणि) द्रव्यकर्म (मुत्ताणि) मूर्तीक है।

विशेषार्थ—जो जीव विषयोंसे रहित परमात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले सुखमई अमृतके स्वादसे गिरा हुआ है, वह जीव उदयमें आकर प्राप्त हुए कर्मोंका फल भोगता है। वह कर्मफल मूर्तीक पंच इंद्रियोंके विषयरूप है तथा हर्ष विषादरूप सुखदुःखमई है। यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे अमूर्तीक है तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे परमार्थरूप व अमूर्तीक परम आल्हादमई लक्षणधारी निश्चयसुखके विपरीत होनेके कारणसे यह विषयोंका सुख दुःख हर्ष विषादरूप मूर्तीक है क्योंकि निश्चयपूर्वक स्पर्शनादि पांच इंद्रियोंसे रहित अमूर्तीक शुद्ध आत्म तत्वसे विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तीक इंद्रियें हैं उनके द्वारा ही भोगा जाता है अतएव कर्म जिनका ये सुख दुःख कार्य है वे भी मूर्तीक हैं क्यों। कारणके सदृश ही कार्य होता है। मूर्तीक कार्यरूप अनुमानसे उनका कारण भी मूर्तीक जाना जाता है। पांचों इंद्रियोंके स्पर्शादि विषय मूर्तीक है। तथा वे मूर्तीक इंद्रियोंसे भोगे जाते हैं जैसे भ[illegible] दुःख होता है वह भी स्वयं मूर्तीक है। इस तरह कर्मको मूर्तीक सिद्ध किया गया, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—इस व्याख्यान और पूर्वाचार्योंके कहनेसे कर्मबन्धको मूर्तीक या पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल द्रव्यका कार्य सिद्ध किया। कार्मण वर्गणा अनंत पुद्गल परमाणुओंका एक है। तथापि सूक्ष्म

सूर्यपर बादल आजानेसे व एक मूर्तिके ऊपर परदा पड़ जानेसे हम सूर्य या मूर्तिको स्पष्ट नहीं देख सके हैं उसी तरह ज्ञानावरण व दर्शनावरणके उदयसे हम पूर्ण दर्शन ज्ञान नहीं कर सके हैं, जितना उनका क्षयोपशम या घटाव है उतना ही देख जान सके हैं। शरीरमें शक्ति होनेपर भी किसी चोरको या सिंहादि पशुओंको देखकर कायरता आजाती है, वीर्य निर्बल होजाता है उसी तरह अन्तराय कर्म आत्मबलको घटाता है। जैसे, भांग, चरस, शराब आदि नशीले पीनेसे ज्ञान बिगड़ जाता है इसी तरह मोहके उदयसे ज्ञान विपरीत काम करता है। यदि मोहनीय कर्मका भेद क्रोधकषाय मूर्तिक न होता तो उसके उदयसे शरीरपर उसका फल न दिखता। मुखकी ऐंठा बिगड़जाना, लाल आंख होजाना, शरीरका कांपना ये सब क्रोधके उदयके चिह्न हैं। जैसे अनन्तानन्त परमाणुओंका अनुभव मुखको देखकर जैन करलेता है वैसे ही सर्वज्ञको मुखकी ऐंठा देखकर यह अनुमान करलेते हैं कि इसके आत्मामें क्रोध, [illegible]

मूर्तिक है इसलिये इसका काम भी मूर्तिक है ऐसा बतलाया गया है।

आत्मा अनादिकालसे अपने ही मोहादि भाव कर्मोंके द्वारा इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें रागी द्वेषी होता है। ये सर्व मूर्तिक हैं इससे इनका कारण कर्म मूर्तिक है। ये विषय मूर्तिक स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व कर्णेन्द्रियके शब्द भी हैं जो कि मूर्तिक हैं इसलिये इनका कारण कर्म मूर्तिक है। मूर्तिके सिवाय दीखता अमूर्तिक आकाश द्रव्य व मुक्तात्मा व पुद्गल दीखता अमूर्तिक सिद्धात्मा व मुक्त स्कंधी अपर दिखती है क्योंकि वे सर्व अमूर्तिक हैं इसलिये इनका कारण इष्ट व अनिष्ट विषयोंमें राग व द्वेष करना मोहनीयकर्मका अभाव है अतएव मोहनीयकर्म पौद्गलिक है। शास्त्रका यही आशय है। अमूर्तिकने अमूर्तिक के अलावा विशेष गुणोंको बाधा नहीं पहुंच सकती है ये मूर्तिक पौद्गलिक ही बाधाकारी है—अशुद्ध आत्मा अनादिकालसे अमूर्तिक होकर भी मूर्तिकके समान रूपी होरहा है क्योंकि कोई भी आत्माका प्रदेश कर्मबंध रहित शुद्ध नहीं है इसलिये इस अशुद्ध आत्मापर मूर्तिक कर्मोंका असर पड़ता है। सिद्ध भगवान सर्वथा अमूर्तिक हैं, उनके पास अनंत कर्मवर्गणाएं उनमें नहीं हैं इसलिये वे अनंत ज्ञानादि स्वभावोंमें कुछ भी बाधा नहीं पहुंच सकती है। पुद्गलोंमें बड़ी शक्ति होती है—बिजली आदिके तेजस वर्गणाके पुद्गल जगतमें अनेक अद्भुत कार्य सम्पादन करते प्रगट हैं—बिना तारके सम्बन्धके शब्दका हजारों मील जाना बिजलीके ही द्वारा होता है। तैजस वर्गणामें अणुबमी शक्ति कर्मण वर्गणामें है इसीलिये कर्मके उदयमें बड़ी

तरह इन तैजस व कार्मण शरीरोंकी रचना बनी रहती है—उनमेंसे पुराने पुद्गल झड़ते व नए मिलते रहते हैं। पुराने कर्म अपनी स्थिति पूरी कर करके झड़ते जाते नए कर्म बंधते जाते हैं। इस तरह कर्मोंका सम्बन्ध जीवके प्रदेशोंके साथ अनादि कालसे प्रवाहरूप चला आ रहा है और यह सम्बन्ध उसी समय छूटेगा जब इस जीवकी मुक्ति होगी। इन दोनों तैजस कार्मण शरीरोंसे छूटना ही मुक्ति है। यदि अनादि कालसे संसारी जीवके साथ कार्मण शरीर न होता तो कभी भी नई कार्मण वर्गणाओंका बंध न होता।

सिद्धोंके कार्मण शरीर न रहनेसे कार्मण वर्गणाओंके सिद्ध-क्षेत्रमें होते हुए भी कभी भी कर्मोंका बंध नहीं होता।

जीवके सर्व प्रदेश कार्मण वर्गणाओंसे ठसाठस भरे हुए हैं इसीलिये जीवको व्यवहारनयसे मूर्तीक कहा है और यह बताया है कि मूर्तीक जीवका ही बंध मूर्तीक पुद्गलोंसे होना संभव है। इस बंधके स्वरूपको निश्चय करके ज्ञानी जीवको उचित है कि अपने आत्माके निश्चय स्वभावकी ओर ध्यान देवे तब वह यह देखेगा कि उसके आत्माका स्वभाव परम शुद्ध ज्ञानानंदमई सर्व कर्मबंधादि उपाधियोंसे रहित अविकार है। ज्ञानी जीवको उचित है कि बंधके जालसे मुक्त होनेके लिये वह अपने स्वभावका स्वाद लेवे और उसमें मग्न होजावे। जैसे तीन परदोंके भीतर बैठा राजा तीन परदोंसे छिपा है वैसे तैजस कार्मण इन तीन शरीरोंके भीतर बैठा परमात्मा इन शरीरोंसे छिपा है। वास्तवमें अपनेको देह रहित अमूर्त अनुभव करना ही बंध रहित होनेका उपाय है।

कारण है। भावोंके समयमें ही चहुंओर भरी हुई कर्मवर्गणाएं बंधके सन्मुख हो आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाहरूप बद्धसी प्राप्त हो जाती हैं—आस्रव और बंध दोनों ही कार्य एक समयमें होते हैं। बंधके सन्मुख होने मात्र कार्यके अंशको आस्रव तथा बद्धरूप होने योग्य कार्यको बंध कहते हैं। यही आस्रव और बंधमें अन्तर है। पुण्यकर्मका आस्रव हमारे न चाहनेपर भी आता है। सम्यग्दृष्टी जीव पुण्यकी वांछा भी नहीं करता है। वह अपने भावोंमें स्वात्मानुभवको जागृत करनेके लिये श्री वीतराग देव, शास्त्र व गुरुमें भक्ति रूपसे वर्तन करता है व अन्य धार्मिक व परोपकारके कार्य करता है—वह बदलेमें कुछ भी फल नहीं चाहता है, केवल अपने परिणामोंके उत्साहसे सेवा धर्म पलता है। तौभी उन सिद्धान्तने नीचे लिखे सूत्रमें यह बता दिया है कि इतने प्रकारके भावोंके होनेसे साता वेदनीय पुण्य कर्मका आस्रव होगा

"भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः—
सातस्यौपयमिकस्य च दैवस्य।" (उमा० त० ६-१३)

आचार्य सकल प्राणियोंपर दया, व्रत धारियोंपर विशेष

[illegible]

व उनके गुणोंका स्मरण करना इसी को पंच परमेष्टीकी भक्ति कहते हैं—भक्तजन आत्माके शुद्ध स्वभावको ही ग्रहण योग्य मानकरके जहां २ शुद्ध स्वभावकी प्रगटता है उनकी मान्यता इसीलिये करते हैं कि अपनेमें शुद्धस्वभावकी प्रगटताकी योग्यता आजावे। श्री अरहंतकी अष्टद्रव्यसे पूजा करना बहुत अधिक शुभ रागको बढ़ानेवाली है, मुनीश्वरोंको दान देना बहुत अधिक धार्मिक अनुरागका कारण है। साधुओंकी वैयावृत्य करना—उनको संयम साधनमें अधिक उद्योगवान बनाना यह सब प्रशस्त राग है। इसके सिवाय मुनि या श्रावकके व्यवहारचारित्रमें उद्यम करना, सदा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व ममता रहित भाव रखना, व्रतोंकी रक्षार्थ पचीस भावनाओंका विचार रखना, गुरुकी आज्ञानुसार वर्तना यह सब शुभराग है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव अनेक प्रकार शुभ कार्योंको विषयभोगके पानेकी लालसासे निदान भावके साथ करता है जिससे पुण्य तो बांधता है परन्तु वह पुण्य अतिशय रहित होता है, सम्पराय पापबन्धका कारण होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टी धर्मानुरागसे [illegible] करता है जिससे अतिशयकारी महान पुण्य [illegible]। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी शुभरागको भी त्यागने योग्य [illegible] अशुभ रागसे बचनेके लिये शुभ राग करता [illegible] पुण्यके भोगका लाभ करता है। ज्ञानी पुण्य और पापको [illegible] कारण जानता है। जैसा स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें कहा है—

सो वण्णियमेत्तं णियदं अधवा कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १५३ ॥

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ–जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बांधती है वैसे ही सुवर्णकी बेड़ी बांधती है। इसी तरह शुभ या अशुभ किया हुआ कर्म जीवको पुण्य तथा पापकर्मसे बांधता है। जो निश्चय तत्वज्ञानसे बाहर हैं और मोक्षके वास्तविक कारण शुद्धोपयोगको नहीं जानते हैं वे अज्ञानसे पुण्यको ही मोक्षका कारण जान पुण्यकी इच्छा करते हैं जो वास्तवमें संसारके भ्रमणका कारण है।

उत्थानिका–आगे अनुकम्पाका स्वरूप कहते हैं–

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ १६२ ॥

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनुकम्पा ॥ १६२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जो दु) जो कोई (तिसिदं) प्यासे, (बुभुक्खिदं) भूखे (वा) तथा (दुहिदं) दुःखी को (दट्ठूण) देखकर (दुहिदमणो) अपने मनमें दुःखी होता हुआ (तं) उसको (किवया) दयाभावसे (पडिवज्जदि) स्वीकार करता है अर्थात् उसका दुःख दूर करनेकी (तस्स) उस दयावानके (एसा) यह (अणुकंपा) दया [illegible] है।

विशेषार्थ–अज्ञानी जीव किसीको तीव्र प्यास, भूख व तीव्र [illegible] दुःखित देखकर इसका दुःख कैसे दूर हो ऐसा सोचकर [illegible] दयाभाव करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी अपने [illegible] को न भूलता हुआ संक्लेश परिणाम न करके

[illegible] करता है—उसे दुखी देखकर विशेष करके [illegible] होता है, यह सुखका मार्ग है।

[illegible] सामने जो कोई दुख आवश्यकता [illegible] दिखाई दे उसीके मिटाने [illegible] दुखीकी भूख, प्यास, रोगी, रोगी व दुखी देखकर [illegible] करने लग जाते कि मानो मैं ही भूखा, प्यासा, रोगी या दुखी हूँ और जब तक अपने भूख, प्यास, रोग आदि [illegible] नहीं मिटाता है जैसे ही दूसरेका पराया है ऐसा [illegible] जैसे अपने दुखीके दूर करनेका उद्यम करता है वैसे दूसरेके दुखोंके निवारणमें प्रयत्नवान होजावे। अपनी शक्ति हो तो स्वयं करे, धन औषधि आदिका उद्यम करके, न शक्ति हो तो [illegible] करावे। यदि कुछ भी न सके तो मनमें भावना भावे कि [illegible] दुःख कैसे दूर हो ऐसा कहा कभी अवसर मिले [illegible] यह दयाभाव [illegible] प्रकाशमें प्रकाश [illegible] कि [illegible] जैसे अपने दुःख मिटाने [illegible] है, पानी [illegible] [illegible] यह दयावान [illegible] [illegible] देता है [illegible] [illegible] देखा है [illegible] [illegible] देख सकेगा। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यह दयावान उनके [illegible] योग्य अन्न व पानीका प्रबन्ध कर

देगा। दयाभावसे कषाय मंद होजाती है और मंद कषायी साता वेदनीय आदि पुण्यकर्मोंको बांध लेता है। जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं वे मात्र अपने कोमल परिणामोंकी उलझन मिटानेके लिये तथा मात्र अपना कर्तव्य समझकर दूसरोंके दुःख निवारण करेंगे। वे बदलेमें न कुछ पुण्यबंध चाहेंगे न उससे कुछ प्रत्युपकारकी वांछा करेंगे। तथापि वस्तुका स्वभाव है कि जहां शुभराग हो वहां पुण्य बंध हो जावे इस नियमित वस्तुस्थितिके अनुसार वे पुण्यकर्म जैसा योग्य है वैसा बांध लेवेंगे, किन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टी अपनी बड़ाई व लाभ व बदला व पुण्यकर्मका बंध चाहता हुआ ज्ञानीकी अपेक्षा तीव्र कषायके कारण अल्प पुण्यकर्मका बंध करेगा। प्रयोजन आचार्यका यह है कि जो हितकांक्षी आत्माएं हैं उनको मोक्षके बीजभूत शुद्धोपयोगमें रहनेका यत्न करना चाहिये, परन्तु शुद्धोपयोगमें पहुचना व अन्तर्मुहूर्त भी स्थिर रहना बड़े२ वीर पुरुषोंका काम है अतएव जबतक उपयोग शुद्धोपयोगमें लगे तबतक उस ही की तरफ उपयुक्त रहकर स्वात्मानुभव करना योग्य है, परन्तु जब उपयोग उसमें न लगे तब शुभोपयोगमें लगानेके लिये अनुकंपा भावका व दयानुकूल कर्तव्यका पालन भी करना योग्य है। जैसा श्री कुलभद्र आचार्यने कहा है

दयाङ्गना सदा सेव्या सर्वकालफलप्रदा।
सेविताऽसौ करोत्याशु मानसं करुणात्मकम् ॥ २५६ ॥

अर्थात्—सर्वकाल शुभ फल देनेवाली दयारूपी स्त्रीका सेवन करना योग्य है जिसके सेवन करनेसे यह मन शीघ्र ही करुणारूप होजाता है।

श्री पद्मनंदि मुनि लिखते हैं—

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो।
धर्मः स किं न करुणांतिलु यत्र मुख्या॥
तद्धिक तपो गुरुरथास्ति न यत्र चेष्टा।
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम्॥ १८॥

भावार्थ—जिसमें विकार भाव हो वह देव कैसे होसक्ता है। जहां दयाकी मुख्यता नहीं वह धर्म क्या होसक्ता है, जिसमें आत्मज्ञान नहीं वह तपस्वी गुरु कैसे होसक्ता है, वह धन किस कामका जो पात्र दानमें नहीं काम आता है।

उत्थानिका—आगे जिसकी कषायका स्वरूप कहते हैं

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तं बुधा बेंति॥ ४६॥

कोधो वा यदा मानो माया लोभो वा चित्तमासाद्य।
जीवस्य करोति क्षोभं कालुष्यमिति च तं बुधा ब्रुवन्ति॥ ४६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ : यदा जिस समय (कोधो) क्रोध (व अथवा माणो) मान, (माया व) माया (व तथा) (लोभो) लोभ चित्तं चित्तको (आसेज्ज) प्राप्त होकर (जीवस्स) आत्माके (खोहं) क्षोभ (कुणदि) करता है (तं) उसको (बुधा) ज्ञानी (कलुसोत्ति) कलुषता (बेंति) कहते हैं।

विशेषार्थ [illegible]

क्षोभरहित शुद्ध आत्माके अनुभवसे विपरीत आकुलित भावको चित्तक्षोभ कहते हैं। इन क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे जो चित्तमें क्षोभ होता है उसको कलुषता कहते हैं। इस कलुषतासे विपरीत भावको अकलुषता या मंदकषायरूप शुभ राग कहते हैं यही भाव पुण्यकर्मके आस्रवका कारण है—यह भाव कभी अज्ञानी मिथ्यादृष्टीको भी अनंतानुबन्धी कषायके मंद उदय होनेपर होजाता है तथा ज्ञानीके भी यह शुभ भाव तब होता है जब उसको विकार रहित स्वानुभवका लाभ नहीं होता व ज्ञानी खोटे ध्यानसे बचनेके लिये इस चित्तको समतारूप भावको संतोष, दयाभाव, क्षमा आदिके रूपमें करता है।

भावार्थ इस गाथामें भी पुण्यके कारणरूप भावको बताया है। १३२वीं गाथामें कह चुके हैं कि चित्तकी कलुषताका न होना पुण्यबन्धका कारण है। इस चित्तकी कलुषताको यहां दर्शाया है—यह बात देखनेमें आती है कि जब कभी मानवोंमें तीव्र क्रोध आजाता है तब बहुत ही बुरा भाव होजाता है—योग्य विवेक नहीं रहता है, शरीर कांपने लगता है आंख लाल होजाती है। इसी तरह जब अभिमान आजाता है तब अकड़का भाव ऐसा कठोर आजाता है [illegible] दया भी नहीं आती है। अपनेसे छोटोंको तुच्छ [illegible] अपने अपमानको नहीं सह सकता है, [illegible] कार्य करनेके लिये कायरता पर्यंत आजाता है [illegible] आजाता है—तीव्र लोभ कषायके उदयसे इस प्राणीके चित्त [illegible] है तब दूसरोंको पीड़ा देकर भी धन संग्रह करने लगता है—मानव अन्धश्रद्धा, कर्तव्य अकर्तव्यका

विचार छोड़ देता है। इत्यादि चित्तकी कलुषता नहीं न होकर शांत भाव है, विनय है, सरलता है, सत्य भाषण है, लोभसे द्रव्य कमाना है, अन्यायको त्यागकर न्यायका ग्रहण करना है, परोपकारका भाव है ये सब मंदकषायके कार्य हैं। इन कार्योंको करते हुए चित्तकी प्रसन्नता होती है। यह भी चित्तप्रसाद पुण्य आस्रव करता है।

सम्यग्ज्ञानी जीवका लक्ष्य शुद्ध आत्माके अनुभवपर ही होता है। जब उपयोग उसमें ठहरनेको असमर्थ होजाता है तब अशुभ उपयोगसे बचनेके लिये यह नानाप्रकार मंद कषायरूप शुभ कार्योंको करता है जिससे स्वर्ग पुण्यबंधका बंध होजाता है-ज्ञानी पुण्यबंधकी भी चाहना नहीं करता है।

श्री समयसारजीमें स्वामी कहते हैं—

अवि कुव्वदि अवि वेदइ णाणी कम्माइ बहुपयाराइ।
आसवदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३४० ॥

भावार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव नाना प्रकारके पुण्य पाप कर्मोंका न कर्ता होता है न भोक्ता बनता है, वह कर्मोंके फलको, बंधको, पुण्य तथा पापको मात्र जानता ही है—तत्त्वज्ञानी अपने परिणामोंको सम्यक्के लिये व पुनः शुद्ध भावमें रमनेके लिये ही शुभ भावोंके भीतर परिणमन करता है पुण्यके लोभसे शुभभाव नहीं करता है।

इस तरह चार गाथाओंमें पुण्यास्रवके कारणोंको बताया।

उत्थानिका- अब दो गाथाओंमें पापास्रवका स्वरूप कहते हैं—

चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयेसु।
परपरितापपवादो पावस्स य आसव कुणदि ॥ १४७॥

चर्या प्रमादबहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु।
परपरितापप्रवादः पापस्य आस्रवं कुरुते ॥ १४७॥

नेवाले इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, रागविलास व भोग इन निदान रूप कारणोंसे होते हुए क्लेशभावको चार प्रकार आर्तध्यान कहते हैं। मोहके वशसे शुभ सुखानुभवकी भावनासे भविष्यमें दृष्ट विषयमें पैदा होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी व परिग्रहके रक्षणमें आनंदरूप चार रौद्रध्यान हैं। शुभोपयोग व शुद्धोपयोग दोनोंको छोड़कर मिथ्यादर्शन व रागादिभावोंके आधीन होकर अन्य किसी दुष्टभावमें प्रवर्तन करनेवाले ज्ञानको दुष्प्रयुक्तज्ञान कहते हैं, मोहके उदयसे पैदा होनेवाले ममत्व आदिके विकल्पनाओंसे रहित जो स्वानुभूति उसका नाश करनेवाला दर्शनमोह और चारित्र मोह कहा जाता है। इत्यादि विभाव भावोंका प्रपंच है। ये सब भाव पापकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बहुत उपयोगी कथन किया है और एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय तकके जीवोंके जो जो भाव पाप बंधके कारण होसक्ते हैं उन सबको इसमें बता दिया है। चार संज्ञा, तीन लेश्या व इंद्रियाधीनपना तो सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीवोंके सामान्यसे पाया जाता है। वृक्षादि एकेंद्रिय, लट आदि द्वींद्रिय, चींटी आदि त्रींद्रिय, मक्खी आदि चौंद्रिय व मच्छ आदि पंचेंद्रिय जीव सदा ही डरते हैं, भय है कि कहीं प्राण न चले जावें, परस्पर एक दूसरेको खानेका इच्छा है, अपने शरीरमें व अपने शरीरके रक्षण आदिमें अति ममत्व है इसीसे चींटी, मकोड़ा, चींटी दाबने वालेको पकड़ करते हैं क्षुद्र जंतु भी अपनी रक्षाके लिये भूमिमें बिलका स्थान बना लेते हैं, खटमल आदि मारनेवाले या पकड़नेवालेकी आहट पाते ही तुरंत भयसे भाग जाते हैं ये सब जन्म

अपनी२ इंद्रियोंके आधीन होकर जीवनपर्यंत कर्म किया करते हैं या दुःखसुख भोगा करते हैं। कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या सम्बन्धी परिणाम एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियतक सर्व जीवोंमें पाए जाते हैं। निगोद जीवमें भी ये तीन लेश्याएं होती हैं। कषायोंकी जहां अधिक तीव्रता होती है वहां कृष्ण, जहां कुछ उससे कम तीव्रता होती है वहां नील, जहां और भी कम तीव्रता होती है वहां कापोतलेश्याके भाव होते हैं—ये तीनों भाव अपने स्वार्थके साधनेवाले व उस स्वार्थमें बाधकोंसे द्वेष करके उनकी हानि करनेवाले होते हैं। जहां परके हितका भाव हो वहांसे पीतलेश्या जो शुभ है प्रारम्भ होती है—असैनी पंचेंद्रिय तकमें परके हितका भाव संभव नहीं है। इसलिये चौइंद्रियतक तो तीन अशुभलेश्याएं ही शास्त्रमें बताई हैं। पंचेंद्रिय असैनीके कभी पीतलेश्या संभव है। कषायोंका उदय हरसमय एक ही प्रकारके वेगका नहीं रहता है। कभी अतितीव्र व कभी उससे कम होजाता है। इसीसे कर्मोंकी स्थिति व उनका अनुभाग बन्ध भी अनेक प्रकारका पड़ता है। यही कारण है जो किसी निगोद एकेंद्रिय जीवके भी कभी मनुष्य आयुका बंध होजाता है और वह जीव सीधा नित्यनिगोदसे निकल कर मनुष्य पैदा होजाता है। लेश्याओंसे ही सर्व कर्मोंका बंध होता है। बहुतसे लोग एकेंद्रिय आदि शरीरोंको मात्र भोग शरीर मानते हैं, वे कहते हैं कि उनके पाप बंध नहीं होता है। जैन सिद्धांत कहता है कि बंधका कारण कषाय और मोह है। क्योंकि इनका अस्तित्व सर्व ही एकेंद्रियादि जीवोंके है इसलिये सर्व ही जीव पापका बंध करते हैं—सामान्यसे सर्व ही संसारी जीव हर

विशेषार्थ—[illegible] जीव जिस गुणस्थानमें आता है वहां [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] प्रकृतियोंका [illegible] रहता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बताया गया है। गुणस्थानके [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] [illegible] रहता है।

नीचे [illegible] [illegible] अनुसार [illegible] प्रकृतियोंका [illegible] तथा [illegible] गुणस्थान [illegible] [illegible] [illegible] जाता है

"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
गुणठाणेसु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥"

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उदय प्रकृतियें हैं उनमें मिथ्यात्व गुणस्थानके आगे सोलहका, सासादनमें आगे पचीसका, चौथे अविरतिमें आगे दसका, पांचवें देशविरतिमें आगे चारका, प्रमत्तविरत नामके छठेमें आगे [illegible], सातवें अप्रमत्तमें आगे एकका, आठवें अपूर्वकरणमें आगे [illegible], नौमें अनिवृत्तिकरणमें आगे [illegible], [illegible] सूक्ष्मसांपरायमें आगे [illegible], तेरहवें सयोग केवलि गुण[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] कर्मप्रकृतियें कहनी चाहिये

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] होता [illegible]

[illegible] पापसे [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] चाहिये, यह [illegible] है।

विशेषरूप संवर रत्नत्रय मार्गके प्रतापसे ही होता है। जिस किसीको सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं और वह मिथ्यादृष्टी होकर पहले गुणस्थान हीमें है वह बाहरमें इंद्रियोंके रोकने, व कषायोंके दबाने तथा आहारादिकी इच्छाओंको रोकनेपर भी कर्मोंका संवर नहीं कर सक्ता क्योंके विना सम्यग्दर्शनके जीवकी रुचि इंद्रिय विषयोंसे हटती नहीं। क्रोधादि कषाय जीवके विभावभाव हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाएं बंधकी कारण हैं यह रुचि दृढ़ नहीं होती तथा अपने शुद्ध कषाय रहित वीतराग स्वभावकी रुचि नहीं होती, आत्मानंदकी प्रतीति नहीं होती। विना सम्यक्तके इंद्रिय सुख ही ग्रहण योग्य झलकता है। इसलिये वह प्राणी न तो इंद्रियोंको रोक सक्ता है न कषायोंको जीत सक्ता है न आहार आदि संज्ञाओंसे बच सक्ता है। सम्यग्दर्शनके होजानेपर अनंतानुबन्धी कषायका उदय नहीं रहता है इसलिये न्याय, कर्तव्य अकर्तव्यका ध्यान हो जाता है यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी पंच अणुव्रतके नियमादि ग्रहण नहीं कर सक्ता है क्योंकि देश संयमके रोकनेवाले अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय मौजूद है—यह चौथे गुणस्थानवाला यद्यपि [illegible] नहीं है तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य [illegible] है जिसमें उसके भावोंमें शांति, धर्मानुराग व संसार [illegible] वैराग्य, प्राणियोंपर दया तथा मोक्ष आदि पदार्थोंमें श्रद्धा [illegible] इस कारण उसकी प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा बहुत [illegible] व न्यायपूर्ण होजाती है। परमात्मा अर्हंतकी भक्ति, [illegible], स्वाध्याय, स्वसुधा आदि आराधनाके कारण कर्मोंमें बांधे हुए [illegible] अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होजाता है

सब पर आवरके अभावसे पाता हुआ अनुपयोगी होजाता है। चौथी प्रतिमासे लेकर ग्यारह प्रतिमा तकके चारित्रको बढ़ाता हुआ चला जाता है। सब प्रत्याख्यानावरण कषायका भी उपशम होजाता है तब सर्व परिग्रह त्यागका मुनि होजाता है। धर्मध्यानके अभ्यासमें व शुक्ल ध्यानके प्रतापसे गुणस्थान बढ़ता हुआ सब ग्यारहवें गुणस्थानमें सर्व मोहका उपशम करदेता है व बारहवेंमें सर्व मोहका नाश करदेता है तब वीतरागी हो जाता है—कषायका लेश नहीं रहता है, मात्र योगोंकी प्रवृत्ति तेरहवें सयोगकेवली तक रहती है इससे मात्र सातावेदनीका आस्रव करता है—चौदहवें अयोग गुणस्थानमें इसका भी आस्रव रुक जाता है तब पुराने कर्मोंको झाड़कर एकदम सिद्ध परमात्मा होजाता है। भावार्थ यही है कि ज्ञानी जीवको उचित है कि जिस तरहसे होसके सम्यग्दर्शनके पानेका उद्योग करे। यही सब तत्वका मूल है। सम्यग्दर्शनका लाभ भेदविज्ञानके विना नहीं होता। आत्माका स्वभाव सर्व रागादि नैमित्तिक भावोंसे, अष्ट कर्मोंसे व शरीरादिसे भिन्न है। यह यथार्थ ज्ञान होजाना भेद विज्ञान है। इस ज्ञानको पैदा करनेके लिये इसी ज्ञानकी भावना नित्य करनी योग्य है। इसी भावनाके दृढ़ अभ्याससे सम्यग्दर्शनका लाभ होता है।

इस भेदविज्ञानके विचारका लाभ आगे स्वामीने समयसारमें इस तरह बता दिया है

विरोधरूप संवर रत्नत्रय मार्गके प्रतापसे ही होता है। जिस किसीको सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं और वह मिथ्यादृष्टी होकर पहले गुणस्थान हीमें है वह बाहरमें इंद्रियोंके रोकने, व कषायोंके दबाने तथा आहारादिकी इच्छाओंको रोकनेपर भी कर्मोंका संवर नहीं कर सक्ता क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके जीवकी रुचि इंद्रिय विषयोंसे हटती नहीं। क्रोधादि कषाय जीवके विभावभाव हैं व आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाएं बंधको कारण हैं यह रुचि दृढ़ नहीं होती तथा अपने शुद्ध कषाय रहित वीतराग स्वभावकी रुचि नहीं होती, आत्मानंदकी प्रतीति नहीं होती। विना सम्यक्तके इंद्रिय सुख ही ग्रहण योग्य झलकता है। इसलिये वह प्राणी न तो इंद्रियोंको रोक सक्ता है न कषायोंको जीत सक्ता है न आहार आदि संज्ञाओंसे बच सक्ता है। सम्यग्दर्शनके होजानेपर अनंतानुबन्धी कषायका उदय नहीं रहता है इसलिये न्याय, कर्तव्य अकर्तव्यका ध्यान हो जाता है यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी पंच अणुव्रतके नियमादि ग्रहण नहीं कर सक्ता है क्योंकि देश संयमके रोकनेवाले अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय मौजूद है—यह चौथे गुणस्थानवाला यद्यपि प्रतिज्ञापूर्वक व्रती नहीं है तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भावका धारी होता है जिससे उसके भावोंमें शांति, धर्मानुराग व संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य, प्राणियोंपर दया तथा मोक्ष आदि पदार्थोंमें श्रद्धा होजाती है, इस कारण उसकी प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा बहुत विवेकपूर्ण व न्यायपूर्ण होजाती है। परमात्मा अरहंतकी भक्ति, गुरुसेवा, स्वाध्याय, स्वानुभव आदि भावशुद्धिके कारण कार्योंमें प्रवृत्ति करते हुए जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होजाता है

तब यह आत्माके भावोंको पलटता हुआ अपूर्वकरणी होजाता है। इसकी प्रतिसमय ऐसा अपूर्व परिणाम होते चारित्रको बढ़ाता हुआ चला जाता है। जब सम्पूर्ण चारित्रमोह [illegible] भी उपशम होजाता है तब यह ग्यारहवें स्थानका मुनि होजाता है। परंतु क्षपकश्रेणीके आरो-हणमें शुक्ल ध्यानके प्रभावसे गुणस्थान चढ़ता हुआ जब दशवें गुणस्थानमें सर्व मोहका उपशम करदेता है व बारहवेंमें सर्व मोहका नाश करदेता है तब वीतरागी हो जाता है कषायका मैल नहीं रहता है, मात्र योगोंकी प्रवृत्ति तेरहवें सयोगकेवली तक रहती है इससे मात्र सातावेदनीयका आस्रव करता है—चौदहवें अयोग गुण-स्थानमें इसका भी आस्रव रुक जाता है तब पुरातन कर्मोंको छोड़कर एकदम सिद्ध परमात्मा होजाता है। भावार्थ यही है कि ज्ञानी जीवको उचित है कि जिस तरहसे होसके सम्यग्दर्शनके लाभका उद्योग करे। यही सबका मूल है। सम्यग्दर्शनका लाभ भेदविज्ञानके बिना नहीं होता। आत्माका स्वभाव सर्व [illegible] कर्मोंसे व रागादिसे भिन्न है। [illegible] नहीं है। इस ज्ञानको पक्का [illegible] निश्चय करना योग्य है। इसी भावनासे [illegible] सम्यग्दर्शनका लाभ होता है।

इस भेदविज्ञानको [illegible] स्वामीने समयसारमें इस तरह बता दिया है

कम्मविवागं कम्मं णोकम्मं चावि [illegible] ।
उवओगमिव कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १७ ॥
[illegible] विविहा [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥ २

भावार्थ-आठ प्रकार कर्ममें व शरीरादि नोकर्ममें कोई ज्ञान दर्शनोपयोग जो जीवका लक्षण है सो नहीं है। तथा उपयोग भी द्रव्य कर्म और नोकर्ममें नहीं है। जिनेन्द्र भगवानोंने कर्मोंके उदयका फल नानाप्रकारका कहा है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक अकेला जाननेवाला, ज्ञायक स्वभावका धारी हूं।

उत्थानिका-आगे सामान्यसे पुण्य तथा पापके संवरका स्वरूप कहते हैं:-

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४०॥

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु।
नास्रवति शुभमशुभं समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥ १४० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिसके भीतर (सव्व दव्वेसु) सर्व द्रव्योंमें (रागो दोसो मोहो वा) राग, द्वेष, मोह (ण) नहीं (विज्जदि) मौजूद हैं उस (समसुहदुक्खस्स) सुख व दुःखमें समान भावके धारी (भिक्खुस्स) साधुके (सुहं असुहं) शुभ या अशुभ कर्म (णासवदि) नहीं आते हैं।

विशेषार्थ-जीवके परमधर्म लक्षण स्वरूप शुद्धभावसे विपरीत रागद्वेष तथा मोह भाव हैं। जो साधु तपोधन रागद्वेष मोहसे रहित शुद्धोपयोगमें युक्त है वह सर्व शुभ तथा अशुभ संकल्पोंसे रहित शुद्ध आत्मध्यानमें पैदा होनेवाले सुखामृतमें तृप्तिरूप एक आकार समतारसमई भावके बलसे अपने भीतर सुख दुःख रूप हर्ष तथा विषादके विकारोंको नहीं होने देता है ऐसे सुख दुःखमें समभावके धारी साधुके शुभ अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता है। यहांपर शुभ

अशुभ भावके रोकनेमें समर्थ शुद्धोपयोगको भावसंवर तथा भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मोंका रुकना सो द्रव्यसंवर है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—यहां गाथामें यह बताया है कि जिसके बुद्धिपूर्वक अशुभ या शुभ कार्योंमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसे शुद्धोपयोगी साधुके पुण्य व पाप दोनों कर्मोंका आस्रव नहीं होता है। सो अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक यद्यपि कषायका मंद उदय है और उससे यथासम्भव कर्मोंका आस्रव व बंध भी होता है परन्तु वह इतना कम है कि यदि आस्रव या बंध नहीं कहें तौभी ऐसा कह सके हैं। जहां बुद्धिपूर्वक रागकी अधिकता है वहीं अधिक कर्मबंध होता है। यहां प्रयोजन यह है कि साम्य-भावमें तिष्ठना ही मुख्यतासे संवरका कारण है। जिसने निश्चयनयसे जगत मात्रके जीवोंको अपने समान देख लिया है, शुद्धनयसे सबको शुद्ध एकाकार अनुभव किया है उसीके ही राग, द्वेष, मोहका अभाव होता है व समता भावकी प्राप्ति होती है।

इस शुद्धोपयोगके बलसे ही उन्नति करते हुए यह आत्मा ऐसी परमात्म अवस्थाको पा लेता है जहां कर्मोंका बिल्कुल भी आस्रव नहीं होता है। वास्तवमें संवरका कारण शुद्धोपयोग है वही भाव संवर है जैसा श्रीअमृतचंद्र स्वामीने समयसारकलशमें लिखा है—

निश्चयमिह भूतार्थं भेदविज्ञानतः स्यात्।
भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलम्भः॥
तमलिनमवबोधं बन्धपर्यायमुक्तं।
भवति रति एव ज्योतिरुद्यन्नवाग्रं॥ ५॥

भावार्थ—जो भेदविज्ञान बलसे अपने आत्माकी महिमासे

लीन होते हैं उन्हींको निश्चयसे शुद्ध आत्म तत्त्वका लाभ होता है—तब वे सर्व अन्य द्रव्योंसे निश्चलपने दूर रहते हैं ऐसा होनेसे कर्मोंसे मुक्ति होजाती है।

उत्थानिका—आगे अयोगिकेवलिजिनके गुणस्थानकी अपेक्षा पूर्ण प्रकारसे पुण्य पापका संवर होजाता है ऐसा कहते हैं—

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥ १५१ ॥

यस्य यदा खलु पुण्ये योगे पापे च नास्ति विरतस्य।
संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मणः ॥ १५१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जदा) जिस समय (जस्स विरदस्स) जिस साधुके (जोगे) योगोंमें (खलु) निश्चयकरके (पुण्णं च पावं) पुण्य और पाप भाव (णत्थि) नहीं होते हैं (तदा) तिस समय (तस्स) उस साधुके (सुहासुहकदस्स) शुभ वा अशुभ द्वारा प्राप्त (कम्मस्स) कर्मबंधका (संवरणं) संवर होजाता है।

विशेषार्थ—जिसके शुभ और अशुभ [illegible] होते हैं उस भगवान परमात्माके कायमें [illegible] होजाता है इसलिये पुण्य और पापसे रहित अपने [illegible] विरक्त कर्मोंका पूर्ण संवर होजाता है। यहां यह कहा है कि निर्विकार शुद्ध आत्माकी अनुभूति भाव संवर है [illegible] अभावका होना द्रव्यसंवर है।

भावार्थ—यद्यपि तत्त्वार्थ सामान्यरूप संवरका कथन है तथापि गुणस्थानके द्वारा [illegible] अयोगि केवली गुणस्थानके अन्तमें पूर्ण संवरकी व्यवस्था की है। [illegible]

भावार्थ-वे संत पुरुष भाग्यवान तथा धन्य हैं जो परभावोंको छोड़ देते हैं और लोक अलोकके प्रकाशक निर्मल आत्माका मनन करते हैं। गृहस्थ हो या साधु हो जो कोई अपने आत्मामें रहता है अर्थात् अध्यात्ममें लीन हो स्वानुभव करता है वह शीघ्र ही सिद्धपद पालेता है ऐसा श्रीजिनेंद्र भगवान कहते हैं। यदि संहनन उत्तम हो और साधु हो तो उसी भवसे या परम्परासे मोक्षका लाभ कर सक्ता है। तात्पर्य यह है कि संवरकी प्राप्तिके लिये हमें आत्मध्यानका अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

इस तरह नव पदार्थोंके कहनेवाले दूसरे महाअधिकारमें संवर पदार्थके व्याख्यानसे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं-सातवा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका-आगे शुद्धात्माका अनुभव रूप शुद्धोपयोगसे साधने-योग्य जो निर्जरा अधिकार है उसमें "संवर जोगेहिं जुदो" इत्यादि तीन गाथाओंसे समुदायपातनिका है। अब निर्जराका स्वरूप कहते हैं-

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१५२॥

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिरपेक्षते बहुविधैः।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतं ॥ १५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जो साधु (संवर जोगेहिं जुदो) भावसंवर और योगाभ्यास या शुद्धोपयोग सहित है और (बहुविहेहिं तवेहिं) नानाप्रकार तपोंके द्वारा (चिट्ठदे) पुरुषार्थ करता है (सो) वह (बहुगाणं कम्माणं) बहुतसे कर्मोंकी (णिज्जरणं) निर्जरा (णियदं कुणदि) निश्चयसे कर देता है।

इसको निमित्त कारण है। कालको व्यवहार ही निमित्त कारण है ऐसा इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें [illegible]

[illegible]

[illegible]

कहकर रह जाते हैं कि यह पंचमकाल है इसमें ध्यान नहीं हो सक्ता है। उनका यह विकल्प सर्वथा मिथ्या व अरुचिवर्द्धक है। कर्मोंके बंधके निवारणके लिये आत्मध्यान ही एक मुख्य उपाय है। तथा जहां साम्यभाव है वहीं आत्मध्यान है तथा वहीं कर्मोंकी निर्जरा होती है। जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वसप्ततिमें कहा है-

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्त्वं परं स्मृतं।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥
साम्यं तद्बोधिनिर्माणं, शाश्वदानंदमंदिरं।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं, द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ ६७ ॥
साम्यं निःशेषशास्त्राणां, सारमाहुर्विपश्चिताः।
साम्यं कर्ममहाकक्षदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥
साम्यं शरणमित्याहुर्योगिनां योगगोचरं।
उपाधिरचिताशेषदोषक्षपणकारणं ॥ ६९ ॥

भावार्थ-एक समताभावको ही करना योग्य है। साम्यभावको परमतत्त्व कहा गया है। सर्व उपदेशोंमें साम्यभावका उपदेश मुक्तिका कारण है। यह समताभाव रत्नत्रयमई भावसे रचित है, सदा आनंदका मंदिर है। समताभाव शुद्ध आत्माका स्वभाव है तथा मोक्ष महलका द्वार है। समताभावको ही विद्वानोंने अनेक शास्त्रोंका सार कहा है। यह समताभाव ही कर्मोंकी महासेनाको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है। योगियोंके लिये ध्यानके गोचर एक समताभावको ही शरण कहा है-यह समताभाव कर्मकी उपाधिसे रचित सर्व दोषोंके नाशका कारण है।

इस नव पदार्थके कहनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निश्चयके कहनेकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा आठवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे निर्विकार परमात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गसे विलक्षण बंध पदार्थके अधिकारमें "जं सुहं" इत्यादि तीन गाथाओंके द्वारा समुदायपातनिका है–प्रथम ही बंधका स्वरूप कहते हैं—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१५५॥

यं शुभाशुभमुदीर्णं भावं रक्तः करोति यदात्मा।
स तेन भवति बंधः पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १५५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) जब (रत्तो) यह कर्मबंध सहित रागी (अप्पा) आत्मा (उदिण्णं) कर्मोंके उदयसे प्राप्त (जं) जिस (सुहम्) शुभ (असुहम्) अशुभ (भावं) भावको (करेदि) करता है (स) वही आत्मा (तेण) उस भावके निमित्तसे (विविहेण) नाना प्रकार (पोग्गलकम्मेण) पुद्गल कर्मोंसे (बंधो हवदि) बंध रूप होजाता है।

विशेषार्थ–यह आत्मा यद्यपि निश्चयनयसे शुद्धबुद्ध एक स्वभावका धारी है तथा व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधनकी उपाधिके वशसे रागी होता हुआ निर्मल ज्ञान तथा आनंद आदि गुणोंका स्थान रूप जो शुद्ध आत्मा उसके स्वरूपमें परिणमन करनेसे भिन्न जो उदयमें प्राप्त शुभ या अशुभ भाव है उसको अपनी आत्मानुभूतिसे गिरा हुआ करता है तब यही आत्मा उस रागादि परिणामके द्वारा नानाप्रकार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकर्मोंसे बंध जाता है। यहां यह कहा है कि शुद्धात्माकी परिणतिसे विपरीत जो शुभ तथा अशुभ भाव है सो भावबंध है उसके

कहकर रह जाते हैं कि यह पंचमकाल है इसमें ध्यान नहीं हो सक्ता है। उनका यह विकल्प सर्वथा मिथ्या व अरुचिवर्द्धक है। कर्मोंके बंधके निवारणके लिये आत्मध्यान ही एक मुख्य उपाय है। तथा जहां साम्यभाव है वहीं आत्मध्यान है तथा वहीं कर्मोंकी निर्जरा होती है। जैसा श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वसप्ततिमें कहा है-

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतं।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥
साम्यं तद्बोधिनिर्माणं, शश्वदानंदमंदिरं।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं, द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ ६७ ॥
साम्यं निःशेषशास्त्राणां, सारमाहुर्विपश्चिताः।
साम्यं कर्ममहाकक्षदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥
साम्यं शरणमित्याहुर्योगिनां योगगोचरं।
उपाधिरचिताशेषदोषक्षरणकारणं ॥ ६९ ॥

भावार्थ-एक समताभावको ही करना योग्य है। साम्यभावको परमतत्व कहा गया है। सर्व उपदेशोंमें साम्यभावका उपदेश मुक्तिका कारण है। यह समताभाव रत्नत्रयमई भावसे रचित है, सदा आनंदका मंदिर है। समताभाव शुद्ध आत्माका स्वभाव है तथा मोक्ष महलका द्वार है। समताभावको ही विद्वानोंने अनेक शास्त्रोंका सार कहा है। यह समताभाव ही कर्मोंकी महासेनाको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है। योगियोंके लिये ध्यानके गोचर एक समताभावको ही शरण कहा है-यह समताभाव कर्मकी उपाधिसे रचित सर्व दोषोंके नाशका कारण है।

इस तरह नव पदार्थके कहनेवाले तीसरे महा अधिकारमें निर्जराके कहनेकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा आठवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे निर्विकार परमात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गसे विलक्षण बंध पदार्थके अधिकारमें "जं सुहं" इत्यादि तीन गाथाओंकी द्वारा समुदायपातनिका है—प्रथम ही बंधका स्वरूप कहते हैं—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१५५॥

ये शुभाशुभमुदीर्णं भावं रक्तः करोति यदात्मा।
स तेन भवति बद्धः पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १५५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) जब (रत्तो) यह कर्मबंध सहित रागी (अप्पा) आत्मा (उदिण्णं) कर्मोंके उदयसे प्राप्त (जं) जिस (सुहम्) शुभ (असुहम्) अशुभ (भावं) भावको (करेदि) करता है (स) वही आत्मा (तेण) उस भावके निमित्तसे (विविहेण) नाना प्रकार (पोग्गलकम्मेण) पुद्गल कर्मोंसे (बंधो हवदि) बंध [illegible] होजाता है।

विशेषार्थ—यह आत्मा यद्यपि निश्चयनयसे [illegible] स्वभावका धारी है तथा व्यवहारनयसे अनादि [illegible] धिके वशसे रागी होता हुआ निर्मल ज्ञान [illegible] गुणोंका स्थान रूप जो शुद्ध आत्मा उसे [illegible] करनेमें मित्र जो उदयमें प्राप्त शुभ या [illegible] अपनी आत्मानुभूतिसे गिरा हुआ [illegible] उस रागादि परिणामके द्वारा [illegible] कर्मोंसे बंध जाता है। यहां [illegible] विपरीत जो शुभ तथा [illegible]

निमित्तसे जैसे तेलसे लिप्त पुरुषोंके मलका बंध होता है वैसे इस अशुद्ध रागी जीवके साथ कर्मपुद्गलोंका सम्बन्ध हो जाता है, सो द्रव्यबन्ध है यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बन्धका स्वरूप बताया है। पुद्गलकार्मण जातिकी वर्गणाएं सर्वत्र लोकमें फैली हुई हैं। वे वर्गणाएं आत्माकी योगशक्तिके परिणमनसे खिंचकर आत्माके सब प्रदेशोंमें आकर छा जाती हैं अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध कर लेती हैं, इस हीको द्रव्यबन्ध कहते हैं। इस बन्धके होनेके निमित्तकारण इस आत्माके शुभ तथा अशुभ भाव हैं। इन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। ये भाव आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं हैं औपाधिक भाव हैं। आत्माका स्वभाविक भाव शुद्धोपयोग है जो बंधका नाशक है। पूर्व बांधे हुए मोहनीयकर्मके विपाक अर्थात् कर्मसमूह जब द्रव्य, क्षेत्र, कालादिके निमित्तसे उदय होते हैं तब आत्माका भाव स्वयं राग, द्वेष, मोह, रूप हो जाता है। यही भाव कर्म बंध होनेके निमित्त हैं। मिथ्यादर्शन और क्रोधादि कषाय बंधके मूल कारण हैं इन ही के कारण जो बंध होता है उसमें स्थिति तथा अनुभाग पड़ जाते हैं। जिनके मिथ्यात्व भाव होता है वे शुभ व अशुभ कार्योंको अहंकार बुद्धिसे करते हुए उनमें तन्मय होजाते हैं। शुद्ध आत्मीक परिणतिको तथा अतीन्द्रिय सुखको न पहचानते हुए वे इंद्रिय सुख व सांसारिक मान मर्यादाके लोभमें पड़े हुए ही सर्व क्रिया करते हैं जिससे उनके गाढ़ कर्मका बंध पड़ता है परन्तु जो सम्यग्दृष्टी होते हैं वे श्रद्धानमें संसारको व उसके सर्व कार्योंको हेय अर्थात् त्यागने योग्य समझते हैं। कषायोंके उदयके

कारण उनके पहले संस्कारके वश राग द्वेष होता है जिनको वे कर्मरूप रोग मानते हैं तथापि आत्मबलकी मंदतासे उन रागद्वेष भावोंको दूर नहीं कर सके हैं किन्तु उनके वशमें हो नाना प्रकार मन, वचन, कायके वर्तन करते हैं जिनसे वे बंधको प्राप्त होजाते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके रागद्वेष मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा बहुत हलके होते हैं इससे उनके बंध भी बहुत कम स्थितिका पड़ता है—जितना जितना रागभाव घटता जायगा उतना उतना बंध भी हलका होता जायगा तथापि ज्ञानीको बंधके अभावके लिये अध्यात्मरसमें रुचि रखकर तथा आत्मबलको प्रगटकर यथाशक्ति रागद्वेषको घटाकर वीतरागभावका अभ्यास करना चाहिये। यही अभ्यास सत्तामें बंधे हुए मोहकर्मके अनुभाग या फलदान शक्तिको निर्बल कर देगा। यदि उनमें अधिक तथा पापरूप शक्ति होगी तो उनको काट तथा हलारूप मंद कर देगा।

मूल संसारका कारणरूप बंध शुभ व अशुभ कार्योंमें अहंकार बुद्धिसे होता है। जैसा स्वामी कुंदकुंदाचार्यने समयसारमें कहा है—

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुवेवि सव्वे पुण्णं पावं अणेयविहं ॥ २८५ ॥

भावार्थ-यह जीव अज्ञानादि अध्यवसानके कारण सर्व ही तिर्यंच, नरक, देव व मनुष्य संबंधी अनेक प्रकार शुभ तथा अशुभ भावोंको अपना कर लेता है, ये अशुद्ध भाव मेरे स्वभाव हैं इस भूलसे यह बंधको प्राप्त होता है। इसके सम्बन्धमें और भी स्वामी कहते हैं—

मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एव मज्झवसिदंते।
तं पाव बंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ २७२ ॥

भावार्थ–मैं जीवोंको मारता हूं ऐसा जो द्वेष रूप भाव है वह पापका बांधनेवाला है तथा मैं जीवोंकी रक्षा करता हूं–उनको जिलाता हूं ऐसा जो शुभ राग रूप भाव है वह पुण्यका बांधनेवाला है। बाहरी पदार्थ बंधके कारण नहीं हैं। बन्धके कारण जीवके अपने ही औपाधिक भाव हैं इसलिये इन भावोंको दूर करना चाहिये।

उत्थानिका–आगे बहिरंग व अंतरंग बन्धके कारणका उपदेश करते हैं–

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१५६॥

योगनिमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचनकायसंभवः।
भावनिमित्तो बन्धो भावो रतिरागद्वेषमोहयुतः ॥ १५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जोगणिमित्तं) योगके निमित्तसे कर्म-पुद्गलोंका ग्रहण होता है। (जोगो) योग (मणवयणकायसंभूदो) मन, वचन, कायकी क्रियासे होता है। (बंधो) उनका बंध (भावणिमित्तो) भावोंके निमित्तसे होता है। (भावो) वह भाव (रदिरागदोसमोहजुदो) रति, राग, द्वेष व मोहसहित मलीन होता है।

विशेषार्थ–क्रियारहित व निर्विकार चैतन्य ज्योतिरूप भावसे भिन्न मन, वचन, कायकी वर्गणाके आलम्बनसे व्यापाररूप हुआ आत्मप्रदेशोंका हलनचलन रूप लक्षणधारी योग है, जो वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे कर्मोंको ग्रहण करनेका हेतु होता है। रागादि दोषोंसे रहित चैतन्यके प्रकाशकी परिणतिसे भिन्न जो दर्शनमोह और चारित्रमोहसे उत्पन्न हुआ भाव सो रति, रागद्वेष मोह

पुण्णफलसंपरोरेरएण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु हाणी कम्मासमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ मन, वचन, कायसे युक्त इस जीवके भीतर पुण्य [illegible] कर्मके उदयसे, जो कर्मोको खींचनेमें कारण [illegible] है उसको योग कहते हैं।

भावार्थ यही योग है जिससे कर्मोका आस्रव होता है, तथा [illegible] का परिस्पंदन होता है। योगोंके तीव्र परिणमनसे अधिक कर्मोंका आस्रव होता है तथा मंद परिणमनसे कम आता है कर्म [illegible] मनवालोंके ही परिस्पंदन करते हैं।

श्री अमृतचंद्र कर्मप्रकृतिमें कहा है -

अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥ [illegible]

भावार्थ यहां यह [illegible] जो योग कर्मोंकी प्रकृतियोंको [illegible] है [illegible] योग होता है तथा आगे आगामी भावोंमें [illegible] [illegible] होते हैं।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अधिकतासे अधिक व कषायोंके मंद होनेसे कम अनुभागबंध होगा तथा सातावेदनीय, शुभ नाम, उच्चगोत्र व शुभ आयु कर्मोंमें क्षायोंकी मंदतासे अधिक व कषायोंकी तीव्रतासे कम अनुभागबन्ध होगा। जैसा श्री गोम्मटसार कर्मकांडमें कहा है—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ १६३ ॥

भावार्थ—सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग बन्ध विशुद्धभाव या मंदकषायसे तथा मंद अनुभाग संक्लेशभाव या तीव्रकषायसे होगा तथा असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग संक्लेशभावसे व मंद अनुभाग विशुद्धभावसे होगा।

इस तरह यहां यह बताया गया है कि योग और कषाय ही चार प्रकार बन्धके कारण हैं। क्योंकि कर्मोंका फल अनुभागके अनुसार पड़ता है। इसलिये आत्महित खोजीको उचित है कि वह अपने भावोंमें विशुद्धि रक्खे, शांति भावको धारे। दया, क्षमा, संतोष, परोपकार भाव व मंद इंद्रिय विषयका राग रक्खे। न्यायपूर्वक परको क्लेश न पहुंचाता हुआ जीवन बितावे। जितना कषाय मंद होगा उतना ही पुण्य कर्मोंमें अधिक व पापकर्मोंमें कम अनुभाग पड़ेगा। इसका फल यह होगा कि जबतक यह संसारी जीव मुक्तिका लाभ न कर सके तबतक इसको सुखके कारण बाहरी सामान प्राप्त होते रहेंगे—दुःखके कारण रूप पदार्थोंके सम्बन्धसे बचता रहेगा। इसीलिये श्रीपद्मनंदि मुनिने गृहस्थोंको नित्य दान पूजादि कार्योंमें लीन रहनेकी आज्ञा दी है—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्।
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ॥

कहे गए हैं जो कर्म रागादिकी उपाधिसे रहित व सम्यक्त आदि आठ गुण सहित परमात्म स्वभावके ढकनेवाले हैं। इन द्रव्यकर्मरूप कारणके भी कारण रागादि विकल्पसे रहित शुद्ध आत्मद्रव्यकी परिणतिसे भिन्न जीव सम्बन्धी रागादिभाव हैं-क्योंकि जीव संबंधी रागादि भाव कारणोंके अभाव होनेपर उन चार द्रव्य प्रत्ययों या कारणोंके रहते हुए भी जो जीव सर्व इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें ममता भावसे रहित हैं वे बन्धको नहीं प्राप्त होते हैं। यदि जीवके रागादिभावोंके विना भी इन द्रव्य प्रत्ययोंके उदय मात्रसे बन्ध होजाता हो तो सदा जीवके बन्ध ही रहे क्योंकि संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंका उदय रहता है। इसलिये यह जाना जाता है कि नवीन द्रव्य कर्मोंके बन्धके कारण उदय प्राप्त द्रव्य प्रत्यय हैं, उनके भी कारण जीवके रागादि भाव हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि न केवल योग ही बंधके बाहरी कारण हैं किन्तु द्रव्य प्रत्यय भी बंधके बाहरी कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म भी उदयमें आते हुए बंधके कारण होजाते हैं-परन्तु वे उसी समय बंधके कारण होंगे जब आत्माके भावोंमें विकार भाव रागद्वेष मोह रूपसे उत्पन्न होंगे। यदि रागादि विकार भाव न हों और यह आत्मा अन्य परिणतिमें लीन रहे तो वे द्रव्यकर्म उदय होकर झड जायगे, नवीन बंधके कारण नहीं होंगे। जैसे कोई जीव क्षयोपशम सम्यग्दृष्टी है और वह लगातार ६६ सागर तक ऐसा ही बना रहता है-इस जीवके देशघाति सम्यक्त प्रकृतिका ही उदय है, अन्य ६का उपशम है। चार अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती प्रकृतियें हैं। इनके निषेक इस ६६सागरके

रागादिभाव भी न होंगे। इन कर्मोंकी स्थिति घटाने, अनुभाग घटाने व इनके बन्धका अभाव करने व इनकी निर्जरा करनेका एक मात्र उपाय शुद्ध आत्माकी ओर सन्मुखता है। जो आत्मध्यानी व स्वात्मानुभवी हैं वे ही कर्मोंकी जड़ उखाड़ते हुए कर्मोंसे विजय पाते हुए चले जाते हैं।

गाथामें यह भी बताया है कि जो द्रव्य प्रत्यय मिथ्यात्वादि बंधे पड़े हुए हैं उनके भी कारण रागादिभाव ही थे। रागादिभावोंसे ही उनका भी बंध हुआ था वे ही रागादिभाव नवीन द्रव्यकर्मोंके भी बंधके कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसतरह बने आत्मानुभवका पुरुषार्थ करना चाहिये। समयसारकलशामें श्रीअमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

कथमपि समुपात्तचित्तमप्येकता याः।
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्॥
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्।
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥ २०॥

भावार्थ—जिस तरह होसके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताको प्राप्त होकर उस एकतासे न गिरती हुई व अनन्त चैतन्यके चिह्नरूप, तथा प्रगट प्रकाशमान आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योंकि स्वात्मानुभवके विना किसी भी तरह साधने योग्य कार्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती अर्थात् बंधसे छूटकर मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होसक्ती।

इस तरह नव पदार्थके कहनेवाले दूसरे महाअधिकारमें बंधके व्याख्यानकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा नवमा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

पीठिका—आगे शुद्धात्मानुभव रूप निर्विकल्प समाधिसे साधने योग्य व आगम भाषासे रागादि विकल्पोंसे रहित शुक्लध्यानसे साधने योग्य मोक्षके अधिकारमें गाथाएं चार हैं। उनमेंसे भाव मोक्ष, केवलज्ञानकी उत्पत्ति, जीवन्मुक्तपना तथा अरहंत पद इनका एक ही अर्थ है, इन चार नामोंसे युक्त एकदेश मोक्षके व्याख्यानकी मुख्यतासे "हेदु अभावे" इत्यादि सूत्र दो हैं। उसके पीछे अयोग केवलि गुणस्थानके अंतिम समयमें शेष अघाति द्रव्यकर्मोंसे मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए "दंसणणाणसमग्गं" इत्यादि सूत्र दो हैं। ऐसे चार गाथाओंके द्वारा दो स्थलोंमें मोक्षके अधिकारके व्याख्यानमें समुदायपातनिका है—

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५८॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥ १५९ ॥

हेत्वभावे नियमाज्ज्ञानिन आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणस्तु निरोधः ॥ १५८ ॥
कर्मणोऽभावेन च सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
प्राप्नोतीन्द्रियरहितमव्याबाधं सुखमनन्तम् ॥ १५९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ- हेदुमभावे) मिथ्यात्व आदि द्रव्य कर्मोंके उदय रूप कारणोंके न रहनेपर (णियमा) नियमसे (णाणिस्स) भेद विज्ञानी आत्माके (आसवणिरोधो) रागादि आस्रव भावोंका रुकना होता है। (आसवभावेण) रागादि आस्रव भावोंके विना (कम्मस्स नवीन द्रव्य कर्मोंका (दु) भी (णिरोधो) रुकना हो जाता है। (य) तथा (कम्मस्स अभावेण) चार घातियाकर्मोंके नाश

होनेपर (सव्वण्हू) सर्वज्ञ (य) और (सव्वलोगदरसी) सर्व लोकको देखनेवाला (इंदियरहितं) इंद्रियोंकी पराधीनतासे रहित (अव्वाबाहं) बाधा या विघ्न रहित व (अणंतं) अन्त रहित (सुहं) सुखको (पावदि) पा लेता है।

विशेषार्थ-भाव क्या है व उससे मोक्ष होना क्या है-इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं-कर्मोंके आवरणसे प्राप्त संसारी जीवका जो क्षयोपशमिक विकल्परूप भाव है वह अनादिकालसे मोहके उदयके वश रागद्वेष मोहरूप परिणमता हुआ अशुद्ध होरहा है यही भाव है। अब इस भावसे मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगमकी भाषासे काल आदि लब्धिको प्राप्त करता है।

तथा अध्यात्म भाषासे शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणामरूप स्वसंवेदन ज्ञानको पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम होनेपर फिर उनका क्षयोपशम होनेपर सराग सम्यग्दृष्टि होजाता है। तब अर्हंत आदि पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदिके द्वारा परके आश्रित धर्मध्यानरूप बाहरी सहकारी कारणके द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूं इत्यादि भावना स्वरूप आत्माके आश्रित धर्मध्यानको पाकर आगममें कहे हुए क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर चार गुणस्थानोंके मध्यमेंसे किसी भी गुणस्थानमें दर्शनमोहको क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टी होजाता है। फिर मुनि अवस्थामें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदिसे भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यानका अनुभव करता है। फिर रागद्वेष रूप चारित्र मोहके उदयके अभाव होनेपर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप

वीतराग चारित्रको प्राप्त कर लेता है जो चारित्र मोहके नाश करनेमें समर्थ है। इस वीतराग चारित्रके द्वारा मोहकर्मका क्षय कर देता है-मोहके क्षयके पीछे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त काल ठहर कर दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता है। इस ध्यानसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, व अंतराय इन तीन घातिया कर्मोंको एक साथ इस गुणस्थानके अंतमें जड़ मूलसे दूरकर केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टयस्वरूप भाव-मोक्षको प्राप्त कर लेता है यह भाव है।"

भावार्थ-इन दो गाथाओंमें आचार्यने भाव-मोक्षका यह स्वरूप बताया है कि आत्मा अपने स्वभावमें होजावे अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, व अनंतसुखी व परम वीतराग होजावे-आत्माकी परमात्मा अवस्थाका नाम भाव मोक्ष है। जिस समय ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म आत्माकी सत्तासे बिलकुल छूट जाते हैं तब आत्माका निज स्वभाव प्रगट होजाता है। इस स्वभावकी प्रगटता उसी समय होती है जब आत्मस्वभावके घातक कर्म न तो कोई सत्तामें शेष रहें और न इनके नवीन बंधके कारण ही विद्यमान रहें-पहले कह चुके हैं कि मूल बंधके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय तथा योग हैं। यह आत्मा जब क्षायिकसम्यग्दृष्टी होजाता है तब मिथ्यादर्शनरूपी कारण बिलकुल सदाके लिये जाता रहता है। जब यह महाव्रती साधु होजाता है तब अविरतिरूप कारण भी नहीं रहता है, जब क्षीणकषायमें पहुंच जाता है तब कषाय भी नहीं रहता-मात्र योग अर्हंत परमात्माके तेरहवें गुणस्थानमें रहता है परंतु कषायके विना वह योग कर्मोंको खींचने

हुए भी उनको एक समयसे अधिक नहीं रोक सक्ता है। बिना कषायके कर्मोंमें स्थिति ही नहीं पड़ती है। इसतरह इन कारणोंके अभाव होनेपर बंधके निमित्त कारण राग द्वेष मोहभाव आत्मामें नहीं होते हैं। आश्रवके रुक जानेपर व पिछले कर्म धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानकी अग्निसे भस्म होजाने पर यह महात्मा जीवन्मुक्त परमात्मा या भावमोक्षरूप होजाता है और तब आत्माधीन अतीन्द्रिय आनंदका भोग बिना किसी विघ्न बाधाके अनंतकाल तक करता रहता है।

इस गाथामें आचार्यने अरहंत पदपर लक्ष्य दिलाया है। इस पदमें चार अघातिया कर्म—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र शेष रहजाते हैं इससे द्रव्य मोक्ष इनके भी दूर होनेपर होगी परन्तु भावोंमें विकार करनेवाले कर्मोंके नष्ट हो जानेपर भावमोक्ष तो होगई क्योंकि मूल संसारका कारण मोहनीय कर्म है, इसको तो इन्होंने पहले ही जडमूलसे उखाड़ डाला है। अरहंतका स्वरूप आप्त स्वरूपमें कहा है—

संसारमोहनीयस्तु प्रोच्यतेऽत्र मनीषिभिः।
संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः ॥१८॥
सर्वज्ञः सर्वतोभद्र सर्वदर्शनो विभुः।
सर्वभाव. सदा वन्द्यः सर्वसौख्यात्मको जिनः ॥ १९ ॥
रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः।
कालचक्रविनिर्मुक्त स जिनः परिकीर्तितः ॥ २१ ॥
येन दुःखार्णवे घोरे मग्नानां प्राणिनां दया-
सौख्यमूलः कृतो धर्म शंकर. परिकीर्तित ॥ २६ ॥

भावार्थ—ज्ञानियोंने तो मोहनीय कर्मको ही संसार कहा है। इसके नाश करदेनेसे वे संसारियोंसे उत्कृष्ट आत्मा होगए हैं इसलिये

अरहंत भगवानको परमात्मा कहा गया है। वे सर्वके जाननेवाले, सर्व तरफ कल्याणरूप, चारों दिशाओंमें मुखका दर्शन देनेवाले, ज्ञानकी अपेक्षा सर्व व्यापक, जिनकी दिव्यध्वनि सर्व भाषारूप होजाती है, जो सदा वन्दनीक हैं, सर्व प्रकार सुखी हैं तथा कर्मोंके जीतनेवाले जिन हैं। जिसने रागद्वेषादिको व कर्मरूपी महा वीरोंको जीत लिया हो व जो कालचक्रमें अर्थात् संसारके भ्रमणसे छूट गया हो उसे ही जिन कहा गया है, उसी अरहंतको शंकर कहा गया है क्योंकि उसने भयानक दुःखरूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंके उद्धारार्थ ऐसा धर्म बताया है जो दया और सुखका मूल है। ऐसे भाव-मोक्षरूप अरहंत परमात्माको सदा ही ध्याना योग्य है। इस तरह भावमोक्षका स्वरूप कहते हुए दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे वेदनीय आदि शेष अघातिया कर्म चारके विनाशरूप जो सर्व द्रव्योंकी निर्जरा उसका कारण जो ध्यान है उसका स्वरूप कहते हैं -

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१६०॥

दर्शनज्ञानसमग्रं ध्यानं नो अन्यद्रव्यसंयुक्तं।
जायते निर्जराहेतुः स्वभावसहितस्य साधोः ॥ १६० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(सभावसहिदस्स) शुद्ध स्वभाव के धारी (साधुस्स) साधुके (णिज्जरहेदू) निर्जराका कारण (झाणं) जो ध्यान (जायदि) पैदा होता है वह (दंसणणाणसमग्गं) दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण भरा है तथा (अण्णदव्वसंजुत्तं णो) वह अन्य द्रव्यसे मिला हुआ नहीं है।

विशेषार्थ-पूर्व गाथामें जिस मोक्षोपाय केवलीभगवानका वर्णन किया गया है वे निर्विकार परमानंदमई अपने ही आत्मामें उत्पन्न सुखमें तृप्त हो जानेसे तथा निर्विकार स्वसंवेदनरूप सांसारिक सुख तथा दुःखके विकारोंसे मुक्त हैं। केवलज्ञान व केवलदर्शनको रोकनेवाले आवरणोंके विनाशसे केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित हैं, सहज-शुद्ध चैतन्यभावमें परिणमन करनेसे तथा इंद्रियोंके व्यापार आदि बाहरी द्रव्योंके आलम्बनके न रहनेसे वे परद्रव्यके संयोग रहित हैं, अपने स्वरूपमें निश्चल होनेसे स्थिर चैतन्य स्वभावके धारी हैं, उनके ऐसे आत्मस्वभावको तथा ध्यानके फल स्वरूप पूर्व संचित कर्मोंकी स्थितिके विनाश और उनके गलनेको देखकर केवली भगवानके उपचारसे ध्यान कहा गया है क्योंकि निर्जराका कारण ध्यान है और निर्जरा वहां पाई जाती है, यह अभिप्राय है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया कि केवली भगवानोंके जो यह परद्रव्योंके आलम्बन रहित ध्यान कहा है सो रहे क्योंकि केवलियोंके ध्यान उपचारसे ही कहा है परन्तु चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि छद्मस्थ अर्थात् असर्वज्ञ तपस्वी द्रव्य परमाणु या भाव परमाणुको ध्यायकर केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं वह ध्यान परद्रव्यके आलंबन से रहित कैसे घटता है? आचार्य इसीका समाधान करते हैं। द्रव्य परमाणु शब्दसे द्रव्यकी सूक्ष्मताको तथा भाव परमाणु शब्दसे भावकी सूक्ष्मताको लेना योग्य है, पुद्गल परमाणुको लेना योग्य नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणीमें यही व्याख्यान कहा गया है। यहां भी इस विवादमें पड़े वाक्यका वर्णन किया जाता है। यहां द्रव्य शब्दसे आत्म द्रव्य लेना योग्य है—तथा

परमाणुका अर्थ है रागद्वेषादिकी उपाधिसे रहित सूक्ष्म अवस्था-आत्मद्रव्यकी सूक्ष्मताका नाम द्रव्य परमाणु है। यहां सूक्ष्मावस्था इसीलिये कही गई है कि यह निर्विकल्प समाधिका विषय है। ऐसा द्रव्य परमाणु शब्दका व्याख्यान जानना। भाव शब्दसे उस ही आत्म-द्रव्यका स्वसंवेदन ज्ञान परिणाम ऐसा योग्य है। इस भावका परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्म परिणाम सो भाव परमाणु है। इसमें सूक्ष्मपना इसीलिये है कि यह इंद्रिय और मनके विकल्पोंका विषय नहीं है। ऐसा भाव परमाणुका व्याख्यान जानना योग्य है।

यहां यह भाव है कि प्रथम अवस्थाके शिष्योंके लिये अपने चित्तको स्थिर करनेके लिये, तथा विषयाभिलाष रूप ध्यानसे बच-नेके लिये परम्परा मुक्तिके कारण ऐसे पंचपरमेष्टी आदि परद्रव्य ध्यान करने योग्य होते हैं, परन्तु जब इतर ध्यानके अभ्यासमें चित्त स्थिर होजाता है तब अपना शुद्ध आत्मस्वरूप ही ध्यान कर-नेके योग्य है। ऐसा ही श्री पूज्यपादस्वामीने निश्चय ध्येयका व्याख्यान किया है " आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मना यौ स्वमुप-लभेत सन स्वयं प्रभुः " इस सूत्रका व्याख्यान यह है। जो आत्मा अपने ही आत्माको अपने ही आत्मामें, अपने ही आत्माके द्वारा क्षण भर भी अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त भी प्रत्यक्ष रूपसे धारण करता है या अनुभव करता है, सो स्वयं सर्वज्ञ होजाता है।

इस तरह परम्परा अपेक्षा सहित निश्चय तथा व्यवहारनयसे साधक भावको जानकर ध्येयके सम्बन्धमें विचार नहीं करना योग्य है।

भावार्थ यहां यह कथन है कि सम्पूर्ण द्रव्य कर्मोंका क्षय

होना भी ध्यानसे ही होता है—अर्थात् द्रव्य मोक्षका भी कारण ध्यान है। केवली भगवान जो चार घातिया कर्म नाश कर चुके हैं और जिनको शेष चार अघातिया कर्म नाश करना शेष है—वह-मर्म ध्यानका कुछ उद्यम नहीं करते हैं—उनका जो कुछ शुद्ध स्वरूप होरहा है वह मानो ध्यान रूप ही है। इसीसे यहां ध्यान उपचार मात्र है क्योंकि यहां ध्यानका फल निर्जराका होना देखा जाता है इसीलिये यहां ध्यान मात्र उपचारसे कहा गया है। केवली महाराज अपने स्वभावमें ही विराजमान हैं, पूर्णज्ञान तथा दर्शनसे पूर्ण हैं, उनका यह स्वभाव ही निर्जराका कारण है। अरहंत भगवानमें आत्मस्वभावका रंचमात्र भी विशेष नहीं है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानमें सूक्ष्म योगोंका परिणमन व अयोग भावका होना व कर्मोंकी निर्जरा होना देखकर ही तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व चौथा व्युपरतक्रियानिर्वृत्ति शुक्लध्यान कहा गया है। वास्तवमें मुक्तिका उपाय स्वरूपमें रत होना है जैसा श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसारकलशामें कहा है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या।
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः॥
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां।
भवति सति च तस्मिन्क्षीयते कर्ममोक्षः॥ ४.६॥

भावार्थ—जो भेद विज्ञान व स्वपरके विवेककी शक्तिसे अपने आत्माकी महिमामें रत हैं उनको अवश्य शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है। इस शुद्ध तत्त्वका लाभ होनेपर जो सर्व अन्य द्रव्योंसे निश्चलतासे दूर तिष्ठते हैं अर्थात् मात्र आप आपको ही ध्याते हैं उनको द्रव्यकर्मोंसे मुक्ति होजाती है।

उत्थानिका—आगे सर्वसे छूटना वही द्रव्यमोक्ष है ऐसा कहते हैं—

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोय सव्वकम्माणि।
वयगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१६१॥

यः संवरेण युक्तो निर्जरयंश्च सर्वकर्माणि।
व्यपगतवेदायुष्को मुञ्चति भवं तेन स मोक्षः ॥ १६१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो कोई (संवरेण जुत्तो) परम संवर सहित होता हुआ (अय) और (सव्वकम्माणि) सर्व कर्मोंको (णिज्जरमाणो) निर्जरा करता हुआ (वयगदवेदाउस्सो) वेदनीय कर्म और आयुकर्मको क्षय करता हुआ (भवं) नाम और गोत्र कर्मसे बने संसारको (मुयदि) त्याग देता है (तेण) इस कारणसे (सो) वही जीव (मोक्खो) मोक्ष स्वरूप होजाता है अथवा अभेद नयसे वही पुरुष मोक्ष है।

विशेषार्थ—तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान भावमोक्ष होजाने पर, निर्विकार स्वात्मानुभवसे साधने योग्य पूर्ण संवरको करते हुए तथा पूर्वमें कहे प्रमाण शुद्ध आत्मध्यानसे साधने योग्य चिरकालके संचित कर्मोंकी पूर्ण निर्जराका अनुभव करते हुए जब उनके जीवनमें अंतर्मुहूर्त शेष रह जाता है तब यदि वेदनीय, नाम, गोत्र इन तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मकी स्थितिसे अधिक होती है तब उन तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिको नाश करनेके लिये व संसारकी स्थितिको विनाश करनेके लिये दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण ऐसे चार रूपसे केवलीसमुद्घातको करके अथवा यदि उन तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मके समान ही होती है तो केवलीसमुद्घात

करके अपने शुद्ध आत्मामें निश्चल संवेदनरूप सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम तीसरे शुक्लध्यानको उपजाते हैं। फिर सयोगिगुणस्थानको उल्लंघ कर अयोगिगुणस्थानमें आते हैं। यहां सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आत्मारूप एक आकारमें परिणमन करते हुए परम समरसी भावरूप सुखामृतरसके आस्वादसे तृप्त, सर्व शील और गुणके मण्डार समुच्छिन्नक्रिया चौथे शुक्लध्यान नामके परम यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करते हैं। फिर इस गुणस्थानके अंतिम दो समयोंमेंसे पहले समयमें शरीरादि बहत्तर प्रकृतियोंका व अन्त समयमें वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र इन चार कर्मोंकी तेरह प्रकृतियोंका जीवसे अत्यन्त वियोग होजाता है इसीको द्रव्य मोक्ष कहते हैं। सब कर्मोंसे अलग होनेपर सिद्ध आत्मा एक समयमें लोकके अग्रभागमें जाकर विराजमान होजाते हैं। शरीरोंसे छूटनेपर सिद्ध आत्माकी गति घुमाए हुए कुम्हारके चाककी तरह पूर्वके प्रयोगसे, लेपसे रहित तुम्बीकी तरह कर्मोंकी संगति छूटनेसे, एरंडके बीजकी तरह बन्धके टूटनेसे व अग्निकी शिखाकी तरह ऊर्ध्वगमन स्वभावसे ऊपरको होती है। वे सिद्ध भगवान लोकके आगे गमनमें कारणभूत धर्मास्तिकायके न होनेसे नहीं जाते हैं—लोकाग्रमें तिष्ठे हुए इंद्रियके विषयोंसे अतीत अविनाशी परमसुखको अनंत कालतक भोगते रहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें श्री कुन्दकुन्द महाराजने द्रव्यमोक्षका स्वरूप बताया है। आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाका रहजाना ही मोक्ष है, तब आत्माके प्रदेशोंमें किसी भी जातिकी पुद्गलवर्गणाका सम्बन्ध नहीं होता है—शुद्ध स्फटिकके समान व निर्मलजलके समान व शुद्ध रुईके वस्त्रके समान आत्मा पूर्ण स्वच्छ होजाता है। मोक्ष

होनेपर आत्मा स्वभावसे सीधा ऊपर लोकांत तक गमन सहकारी धर्म-द्रव्य है वहांतक जाकर लोकके अग्रभागके तनुवातवलयमें पूर्व शरीरके आकार ठहर जाता है। कर्मबंधका सम्बंध न रहनेसे कोई विकारी भाव या इच्छा या सांसारिक सुख दुःख सिद्ध आत्मामें नहीं होते हैं। वे पूर्ण ज्ञानघन व परम वीतराग रहते हुए निरंतर आत्मीक अनुभवमें लवलीन रहते हैं और स्वाभाविक सुखका भोग करते हैं। इस ही सिद्ध आत्माको निकल परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, परमपवित्र, परमध्येय, परम आदर्श व परमगुरु कहते हैं। सिद्ध आत्मा अपनी सत्ताको अन्य सिद्धोंसे भिन्न रखते हैं—किसीमें मिल नहीं जाते हैं। जैसे वे अनादिसे अन्य आत्माओंसे भिन्न थे वैसे वे अनंत कालतक भिन्न रहते हैं। इस भगवान प्रभुको अब कोई प्रकारकी बाधा नहीं होती है—संसारकी सर्व आकुलताएं मिट जाती हैं। मोक्ष प्राप्त आत्माका स्वरूप तत्त्वसारमें कहा है—

निट्ठवणपुज्जो होउं भविओ सेसाणि कम्मजालाणि।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥ ६७ ॥
गमणागमणविहीणो फंदणचलणेहि विरहिओ सिद्धो।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहि संजुत्तो ॥ ६८ ॥
लोयालोयं सव्वं जाणइ पिच्छेइ करणकमरहियं।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥ ६९ ॥

भावार्थ—तीन भुवनमें पूजनीय अरहंत भगवान होकर फिर शेष कर्मके जालोंको क्षयकर जैसा पहले कभी नहीं हुआ था वैसा सिद्ध होजाता है और लोकके अग्रभागमें निवास करता है—वे सिद्ध भगवान आवागमन नहीं करते, हलन चलन नहीं करते, उत्कृष्ट आठगुण सहित होकर निराबाध सुखमें तिष्ठते हैं। वे सिद्ध

भगवान बिना किसीकी सहायताके तथा बिना किसी क्रमके सर्व लोक अलोकको व अनंतगुण पर्याय सहित सर्व मूर्तिक तथा अमूर्तिक द्रव्योंको जानने देखने हैं। द्रव्यमोक्ष आत्माके निज स्वरूपका विकास है। इसीलिये ग्रहण करने योग्य है।

इसतरह द्रव्यमोक्षका स्वरूप दो सूत्रोंमें कहा गया। भावमोक्ष व द्रव्यमोक्षके कथनकी मुख्यतामें चार गाथाओंमें दो स्थलोंके द्वारा दशवां अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इसप्रकार इस तात्पर्यवृत्तिमें पहले ही "अभिवंदिऊण सिरसा" इस गाथाको आदि लेकर चार गाथाएं व्यवहारमोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतामें हैं फिर सोलह गाथाओंमें जीव पदार्थका व्याख्यान है। फिर चार गाथाएं अजीव पदार्थके निरूपणमें हैं। फिर तीन गाथाओंमें पुण्य पाप आदि सात पदार्थोंकी पीठिकाकी सूचना है। फिर चार गाथाएं पुण्यपाप दो पदार्थोंके वर्णनके लिये तथा छः गाथाएं शुभ व अशुभ आस्रवके व्याख्यानके लिये हैं। पश्चात् तीन सूत्र संवर पदार्थके स्वरूप कथनके लिये फिर तीन गाथाएं निर्जरा पदार्थके व्याख्यानमें फिर तीन सूत्र बंध पदार्थके कहनेके लिये, पश्चात् चार सूत्र मोक्षपदार्थके व्याख्यान करनेके लिये हैं। इसतरह दश अंतर अधिकारोंके द्वारा पचास गाथाओंमें मोक्षमार्गके अंगरूप तथा दर्शन और ज्ञानके विषयरूप जीवादि नव पदार्थोंका कथन है। इस तरह इस कथनको प्रतिपादन करनेवाला दूसरा महा अधिकार समाप्त हुआ।

पीठिका—इसके आगे मोक्षप्राप्तिके मुख्य कारण निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गमई चूलिका रूप विशेष व्याख्यानमें तीसरा महा अधिकार है। जिसमें "जीवसहाओ णाण" इत्यादि बीस गाथाएं

है। इन बीस गाथाओंके मध्यमें केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव शुद्ध जीवका स्वरूप कथन करते हुए जीवके स्वभावमें स्थिरतारूप चारित्र है सो ही मोक्षमार्ग है, ऐसा कहते हुए "जीवसहाओ णाणं" "इत्यादि प्रथम स्थलमें सूत्र एक, फिर शुद्धात्माके आश्रित स्वसमय है तथा मिथ्यात्व व रागादि विभाव परिणामोंके आश्रित पर समय है ऐसा कहते हुए "जीवसहाव णियदो" इत्यादि सूत्र एक है। फिर शुद्धात्माके श्रद्धान आदि रूप स्वसमय है उससे विलक्षण पर समय है उसीका ही विशेष वर्णन करनेकी मुख्यतासे "जो परदव्वेहिं" इत्यादि गाथा दो हैं, पश्चात् रागादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदन स्वरूप स्वसमयका ही फिर भी विशेष खुलासा करनेकी मुख्यतासे "णो सव्वसंग" इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए छः द्रव्यादिके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व पंच महाव्रत आदि चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्गके निरूपणकी मुख्यतासे "धम्मादी सद्दहणं" इत्यादि पांचवे स्थलमें सूत्र एक है। फिर व्यवहार रत्नत्रय द्वारा साधने योग्य अभेद रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्गको कहते हुए "णिच्चयणयेण" इत्यादि गाथाएं दो हैं। फिर जिसको शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न अतींद्रिय सुख ही ग्रहण करनेयोग्य मालूम होता है वह ही भाव सम्यग्दृष्टी है। इस व्याख्यानकी मुख्यतासे "जेण विजाण" इत्यादि सूत्र एक है। आगे निश्चय रत्नत्रयमई मार्गसे मोक्ष तथा व्यवहार रत्नत्रयमई मार्गसे पुण्यबंध होता है इस कथनकी मुख्यतासे "दंसणणाणचरित्ताणि" इत्यादि आठवें स्थलमें सूत्र एक है। आगे निर्विकल्प परमसमाधि स्वरूप सामायिक नाम संयममें ठह-

रनेको समर्थ होनेपर भी जो उसको छोड़कर एकान्तसे सराग चारित्रके आचरण करनेको मोक्षका कारण मानता है वह तब स्थूल परसमय कहलाता है तथा जो उस समाधिरूप सामायिक संयममें तिष्ठना चाहकर भी उसके योग्य सामग्रीको न पाकर अशुभसे बचनेके लिये शुभोपयोगका आश्रय करता है वह सूक्ष्म परसमय कहा जाता है, इस व्याख्यानरूपसे "अण्णाणादो णाणी" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। फिर तीर्थंकर आदिके पुण्य व जीव आदि नव पदार्थके कहनेवाले आगमका ज्ञान प्राप्त करनेसे व उसमें भक्ति करनेसे यद्यपि उस कालमें पुण्याश्रव रूप परिणाम होनेसे मोक्ष नहीं होती है तथापि उसीके आधारसे कालांतरमें आस्रव रहित शुद्धोपयोग परिणामकी सामग्री प्राप्त होनेपर मोक्ष होती है इस कथनकी मुख्यतासे "सपदत्थं" इत्यादि दो सूत्र हैं। फिर इस पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्रका तात्पर्य साक्षात मोक्षका कारणरूप वीतरागता ही है, इस व्याख्यानको कहते हुए "तम्हा णिव्वुदिकामो" इत्यादि एक सूत्र है। पश्चात् संकोच करते हुए शास्त्रको पूर्ण करनेके लिये "मग्गप्पभावणट्ठं" इत्यादि गाथा सूत्र एक है। इस तरह बारह स्थलोंके द्वारा मोक्षमार्गका विशेष व्याख्यान करनेके लिये तीसरे महाअधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—आगे गाथाके पहले आधे भागमें जीवका स्वभाव व दूसरे आधे भागमें जीव स्वभावमें स्थिरतारूप चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा कहते हैं—

जीवसहावो णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१६२॥

जीवस्वभावं ज्ञानमप्रतिहतदर्शनमनन्यमयं ।
चारित्रं च सदोन्मिषदनन्यमस्खलितमनिन्दितं भणितं ॥ १९२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जीवसहाओ) जीवका स्वभाव (अप्पडिहद) अखंडित (णाणं) ज्ञान तथा (दंसणं) दर्शन है ये दोनों (अणण्णमयं) जीवसे भिन्न नहीं हैं (च) और (तेसु) इन दोनों अखण्ड ज्ञानदर्शनमें (णियदं) निश्चल रूपमे (अत्थित्तम्) रहना सो (अणंदियं) रागादि दोषोंसे रहित वीतराग (चरियं) चारित्र (भणियं) कहा गया है। यही चारित्र मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ—इस गाथाका दूसरा अर्थ यह है कि जैसे केवलज्ञान व केवलदर्शन जीवका स्वभाव है वैसे अपने स्वरूपमें स्थितिरूप वीतराग चारित्र भी जीवका स्वभाव है। सर्व वस्तुओंमें प्राप्त अनंत स्वभावोंको एक साथ विशेष रूप जाननेको समर्थ केवलज्ञान है तथा उनहीके सामान्य स्वरूपको एक साथ ग्रहण करनेको समर्थ केवलदर्शन है ये दोनो ही जीवके स्वभाव हैं। यद्यपि ये दोनों ज्ञान दर्शन स्वाभाविक शुद्ध सामान्य विशेष रूप चैतन्यमई जीवकी सत्तामें संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेदरूप है तथापि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अभेद है व जैसे ही पूर्वमें कहे हुए जीव स्वभावमें अभिन्न यह चारित्र है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है—इंद्रियोंका व्यापार न होनेसे विकार रहित व निर्दोष है। तथा जीवके स्वभावमें निश्चल स्थितिरूप है क्योंकि कहा है "स्वरूपे चरणं चारित्रम्" अर्थात् आत्मभावमें तन्मय होना चारित्र है। यह चारित्र दो प्रकारका है—एक परचरित, दूसरा स्वचरित। परचरित वह है कि जो स्वयं

जीवः स्वभावनियतः अनियतगुणपर्यायोऽथ परसमयः।
यदि कुरुते स्वकं समयं प्रभ्रश्यति कर्मबन्धात् ॥ १६३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जीवो) यह जीव (सहावणियदो) निश्चयसे स्वभावमें तिष्ठनेवाला है (अथ) तथापि व्यवहारनयसे (अणियदगुणपज्जओ) अपने स्वभावसे विपरीत गुण व पर्यायोंमें परिणमन करता हुआ (परसमओ) पर समय या पर पदार्थमें रत होजाता है। (जदि) यदि वही जीव (सगं समयं) अपने आत्मीक आचरणको (कुणदि) करे तो (कम्मबंधादो) कर्मोंके बन्धनसे (पब्भस्सदि) छूट जाता है।

विशेषार्थ–यह जीव शुद्ध निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावका धारी है परन्तु व्यवहारनयसे मोह रहित शुद्धात्माकी प्राप्तिसे विपरीत अनादिकालसे मोहकर्मके उदयके वशसे मतिज्ञान आदि विभाव गुण व नर नारक आदि विभाव पर्यायोंमें परिणमन करता हुआ पर समय अर्थात् पर पदार्थोंमें रत होता हुआ पर चरितवान होरहा है। जब यह जीव निर्मल विवेक ज्योतिसे उत्पन्न परमात्माकी अनुभूतिरूप आत्माकी भावना करता है तब स्वसमय रूप आत्माके चारित्रमें चलनेवाला या रत होनेवाला होता है। इस तरह स्वसमयका व पर समयका स्वरूप जानकर जो कोई जब निर्विकार स्वसंवेदन रूप स्वसमयमें लीन होता है तब यह केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंकी प्रगटतारूप मोक्षसे विपरीत जो बंध है उससे छूट जाता है। इससे यह माना जाता है कि स्वानुभव लक्षण स्वसमयरूप या जीवके स्वभावमें निश्चल चारित्ररूप ही मोक्षमार्ग है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने दिखाया है कि वास्तवमें यह

जीव अपने शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई स्वभावमें रहनेवाला है तथापि अनादिकालसे अपने स्वरूपको नहीं जानता हुआ कर्मोके उदयसे जो विभाव अवस्थाएं होती हैं उनमें अपनापना माने हुए आत्माके स्वभावमें रमण करनेसे छूटा हुआ कर्मोसे पैदा होनेवाली नानाप्रकारकी अवस्थाओंमें तन्मय होकर उनहीके अनुकूल आचरण करता हुआ परसमयरूप होरहा है। यही जीव सब पर कृत अवस्थाओंको अपना स्वभाव न जाने तथा अपने शुद्ध स्वभावको अपना जानकर उसके रमणमें उत्साही होकर रमण करे तब यह स्वसमय रूप होता हुआ वीतरागताको बढ़ाता हुआ, कर्मके बन्धनोंसे छूटता हुआ चला जाता है।

सम्यग्दृष्टी जीव जो संयमी नहीं है तथा अणुव्रती है व प्रमत्तगुणस्थानवर्ती साधु है वह स्वात्मानुभवके कालके सिवाय यद्यपि आत्माके स्वभावमें नहीं रमण करता हुआ लौकिक व्यवहार व धार्मिक व्यवहारमें अपना उपयोग लगा रहा है तथा चारित्रकी अपेक्षा स्वसमय रत नहीं है तथापि श्रद्धान व ज्ञानकी अपेक्षा वह परसमय रत नहीं है वह भलेप्रकार मानता है व श्रद्धान करता है कि आत्माका हित स्वभावमें रमण करना ही है तथा उसमें उपयोगका आत्मामें [illegible] आत्मीक आनन्दके [illegible] तथा चारित्र गुणोंमें ही स्वसमय रूप है। उसका [illegible] है [illegible]

और भी अल्प बंधको करता है, जब कषाय रहित होकर क्षीणमोह गुणस्थानमें शुद्धोपयोगी होजाता है तब तुर्त घातिया कर्मोंका क्षयकर भाव मोक्ष रूप अरहंत परमात्मा होजाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थमें रमणमें जो आत्माकी दुर्दशा होचुकी है उसको ध्यानमें लेकर एक ज्ञानी जीवको अपने ही शुद्ध स्वभावमें रमण करनेका उद्यम करना योग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्व सप्ततिमें कहा है—

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।
रमणीयेषु सर्वेषु, तदेकं परमं स्थितं ॥४३॥
तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदं।
भव्यानामेव तदेकं तदेवैकं परं महः ॥४४॥
शस्त्रं जन्मलतच्छेदि तदेवैकं सतां मतं।
योगिनां योगसिद्धा हि तदेवैकं प्रयोजनं ॥४५॥
मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः।
ध्यानद्वारेऽपि न ध्येयं तद्विहाय विलोक्यते ॥४६॥
संसारघोरदुर्मार्ग यदा तत्त्वस्य देहिनः।
तत्र चारु दृढं ज्ञानं तदेव हिमशीतलं ॥४७॥
तदेवैकं परं दुर्ग-मनन्यं कर्मविद्विषां।
तदेव सन्निरुद्धारि सारं सिद्धेः वर्त्म ॥
तदेव महदा विद्या ब्रह्मसंबन्धनदेव हि।
अन्यत्तदविधत्ते अन्यत्तदविविधानतः ॥४९॥

भावार्थ सर्व शास्त्रमयी एक आत्मतत्त्व ही उत्तम रत्न है, सब ही सुन्दर पदार्थोंमें यही एक सर्व श्रेष्ठ है, यही एक उत्तम तत्त्व है, यही एक उत्तम पद है, भव्योंको यही एक आनन्द कन्द है, यही एक परम ज्योति है, संसारकी वृद्धको

छेदनेवाला यही एक शस्त्र है, ऐसा साधुओंको मान्य है; योगियोंके योगकी स्थिरता उसीमें है, यही एक योगियोंका प्रयोजन है। मोक्षके चाहने वालेके लिये यही एक मुक्तिका मार्ग है अन्य नहीं, उस तत्त्वको छोड़कर अन्य कहीं भी आनन्द नहीं झलकता है। यही एक अदृष्ट किला है जहां कर्मशत्रुओंका गमन नहीं होता है। यही तत्त्व कर्मोंकी सेनाका तिरस्कार करनेवाला है। यही एक बड़ी विद्या है, यही एक उत्तम मंत्र है तथा यही एक श्रेष्ठ औषधि है जो संसारके रोगोंको नाश करनेवाली है।

इसतरह स्वसमय और परसमयके भेदकी सूचना करते हुए गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे पर समयमें परिणमन करते हुए शुभोपयोग स्वरूप फिर भी प्रगट करते हैं —

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो रागचरित्तभट्ठो परचारित्तचरो हवदि जीवो॥ १६४॥

[illegible]

अन्वय सहित सामान्यार्थ [illegible]

विशेषार्थ [illegible]

रागभावसे परिणमन करके शुभ और अशुभ द्रव्योंमें उदासीनतारूप शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्व परद्रव्योंके सम्बन्धमें शुभ या अशुभ भाव करता है सो ज्ञानानंदमई एक स्वभावरूप आत्माके तत्त्वमें चलनेरूप अपने ही चारित्रसे भ्रष्ट होकर स्वसंवेदनमें रमण क्रियासे विलक्षण परचारित्रमें चलनेवाला होजाता है, यह सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें भी यही भाव है कि जो आत्मतत्त्वमें सन्मुख नहीं है, वह परम आचरण करनेवाला है। चारित्रकी अपेक्षा शुद्धोपयोग ही स्वचारित्र है—जो शुद्धोपयोगरूप आत्माके अनुभवसे हटकर अन्य पदार्थोंमें राग या द्वेष करता है वह परमें आचरण करनेवाला अशुद्धोपयोगी है। अविरत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा जो शुद्धात्माको पहिचानकर व श्रद्धानकर स्वरूपाचरण चारित्रमें लीन है व स्वरूपमें रमण करनेकी शक्ति प्राप्त कर चुका है वह स्वचरित है तथा जो आत्माके ज्ञान श्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टी अनात्मज्ञानी बहिरात्मा है सो परचरित है।

वास्तवमें परमानन्दका स्थान अपना ही आत्माका अनुभव है इसलिये जो अपना हित चाहते हैं उनको उचित है कि सर्व विकल्पोंसे मुंह मोडकर एक शुद्धात्माका ही अनुभव प्राप्त करें। इसीसे स्वचारित्रकी प्राप्ति होगी। श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं—

ये ऽभ्यासयंति कथयंति विचारयंति।
स भावयति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वं ॥
ते मोक्षमक्षयमनूनमनंतसौख्यं।
क्षिप्रं प्रयांति नयकेवललब्धिरूपं ॥ ८० ॥

भावार्थ—जो कोई आत्मतत्त्वका अभ्यास करते हैं, उसीका कथन करते हैं, उसीका विचार करते हैं, तथा वारवार उसहीकी

अनुभवसे परिणमन करके शुद्ध और अशुद्ध द्रव्योंमें प्रवर्तनेवाली शुद्धोपयोगी स्थिति और परद्रव्योंके आलम्बनसे शुभ या अशुभ रूप होता है सो आत्मामें एक प्रकारका अवस्थाके कारण भेदरूप आने ही वाली परिणति और शेष अनेकरूपमें रमण किये बिना एकाग्रपरिणतिरूप चारित्र होता है, वह शुद्धनय अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी यही भाव है कि जो आत्मामें लगा हुआ नहीं है, वह पर आलम्बन कहलाता है। चारित्रकी अपेक्षा शुद्धोपयोग ही आवश्यक है-जो शुद्धोपयोगरूप आत्माके अनुभवमें स्थिर अन्य पदार्थोंमें राग या द्वेष करता है वह परमें आलम्बन करनेवाला अशुद्धोपयोगी है। अविरत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा जो शुद्धात्माको पहिचानकर व श्रद्धानकर स्वरूपाचरण चारित्रमें लीन है व स्वरूपमें रमण करनेकी शक्ति प्राप्त कर चुका है वह स्वचारित्र है तथा जो आत्माके ज्ञान श्रद्धानसे रहित मिथ्यादृष्टी अनात्मज्ञानी परिणति है सो परचरित है।

आत्मामें परमानन्दका स्थान अपना ही आत्माका अनुभव है इसलिये जो अपना हित चाहते हैं उनको उचित है कि सर्व विकल्पोंसे मुह मोड़कर एक शुद्धात्माका ही अनुभव प्राप्त करें। इसीसे स्वचारित्रकी प्राप्ति होगी। श्री अमितगति मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं-

यो भव्यः सयति कथयति विचारयति।
स भावयति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वं॥
तेनाक्षमक्षयमनूनमनंतसौख्यं।
क्षिप्रं प्रयाति नवकेवललब्धिरूपं॥ ८०॥

भावार्थ-जो कोई आत्मतत्त्वका अभ्यास करते हैं, उसीका कथन करते हैं, उसीका विचार करते हैं, तथा बारबार उसहीकी

सम्यग्दर्शन न होने हुए नहीं प्राप्त की है यह संसारमें अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यादर्शनके आधीन हो संसारमें अत्यन्त मोही होता हुआ इष्ट पदार्थोंमें राग तथा अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करता है इनसे निरंतर पापका आस्रव करता है व कभी सुखके लोभसे दान, पूजा, जप, तपादि मंद कषायसे करता है तब पुण्यका भी आस्रव करता है, परन्तु इन तीव्र या मन्दकषाय रूप भावोंमें मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायकी मलीनता होती है। इससे ये सब भाव संसारके बढ़ानेवाले हैं-मोक्षके कारण कभी हो नहीं सक्ते तथा यदि मात्र चारित्रकी अपेक्षा गाथाके अर्थपर विचार करें तो ऐसा भाव झलकता है कि एक शुद्धोपयोग रूप स्वात्मानुभव ही मोक्षका कारण है अर्थात् कर्मबंधका जलानेवाला है। जब बुद्धिपूर्वक ध्याताके भावमें समभाव है, वीतरागता है, निर्विकल्पसमाधि है तब ही ध्यान है। न उस समय मुनिके महाव्रतादि व्यवहारचारित्रका विकल्प है न श्रावकके बारह व्रत, देवपूजा आदि षट्कर्मका विकल्प है—अर्थात् बुद्धिपूर्वक ध्याताके भावमें न शुभोपयोग है न अशुभोपयोग है। सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार जानता है कि जितने अंश परिणामोंमें वीतरागता रहेगी और वह निश्चय रत्नत्रय गर्भित होगी उतने अंश ही कर्मकी निर्जरा होगी व जितने अंश सरागता रहेगी उतने अंश कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध होगा इसलिये ज्ञानी जीव जब शुद्धात्मानुभवसे छूटकर शुभ वा अशुभ कार्योंमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति कर रहा है तब वह चारित्रकी अपेक्षा स्वसमय रूप व आपमें आप आचरनेवाला स्वचरित रूप नहीं है किन्तु आत्म-भूमिकाको छोड़कर परमें रत होनेके कारणसे परमें आचरण करनेवाला परच-

उत्थानिका–आगे यद्यपि पहले जीवादि नव पदार्थोंकी पीठिकाके व्याख्यानमें "सम्मत्तं णाणजुदं" इत्यादि व्यवहार मोक्षमार्गका व्याख्यान किया गया तथापि निश्चय मोक्षमार्गका यह व्यवहारमार्ग साधक है ऐसा बतानेके लिये फिर भी कहते हैं–

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६८॥

धर्मादिश्रद्धान सम्यक्त्व ज्ञानमङ्गपूर्वगत।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥ १६८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(धम्मादी) धर्म आदि छः द्रव्योंका (सद्दहणं) श्रद्धान करना (सम्मत्तं) सम्यक्त है। (अंगपुव्वगदं) ग्यारह अंग तथा चौदहपूर्वका जानना (णाणं) सम्यग्ज्ञान है। (तवंहि) तपमें (चिट्ठा) उद्योग करना (चरिया) चारित्र है (ववहारो मोक्खमग्गोत्ति) यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ–वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थोंके सम्बन्धमें भले प्रकार श्रद्धान करना तथा जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियोंमें समान होते हैं परन्तु साधु तपस्वियोंका चारित्र आचार सार आदि चारित्र ग्रंथोंमें कहे हुए मार्गके अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त छठे सातवें गुणस्थानके योग्य पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति व छः आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थोंका चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्रमें कही हुई रीतिके अनुसार पचम गुणस्थानके योग्य दान, शील, पूजा या उपवास आदि रूप या दर्शन, व्रत आदि ग्यारह स्थान-रूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण है। यह व्यवहार

उत्थानिका–आगे यह दिखलाते हैं कि जिसका श्रद्धान स्वाभाविक सुखमें है वही सम्यग्दृष्टी है—

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ॥१७१॥

येन विजानाति सर्वं पश्यति स तेन सौख्यमनुभवति।
इति तज्जानाति भव्योऽभव्यसत्त्वो न श्रद्दधाति ॥ १७१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(सो) यह आत्मा (जेण) जिस केवलज्ञानसे (सव्वं) सबको (विजाणदि) विशेषपने जानता है (पेच्छदि) देखता है (तेण) तिसहीसे (सोक्खम्) सुखको (अणुहवदि) भोगता है (भविओ) भव्य जीव (तं) उस सुखको (इदि) उसी प्रकार (जाणदि) जान लेता है (अभव्वसत्तो) अभव्य जीव (ण) नहीं (सद्दहदि) श्रद्धान करता है।

विशेषार्थ–यह जीव लोक अलोकको प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानसे संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित तीन लोकके तीन कालवर्ती वस्तुसमूहको जानता है तथा लोकालोक प्रकाशक केवलदर्शनसे सत्ता मात्र उन सबको एक साथ देखता है तथा उन्हीं केवलज्ञान, केवलदर्शनके द्वारा इन दोनोंसे अभिन्न सुखको निरंतर अनुभव करता है। जो इस तरहके अनन्त सुखको ग्रहण करने योग्य श्रद्धान करता है तथा अपने२ गुणस्थानके अनुसार उसका अनुभव करता है वही भव्य जीव है। अभव्य जीवको ऐसा श्रद्धान नहीं होता है। मिथ्यादर्शन आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम वा क्षयसे सम्यग्दृष्टी भव्य जीव चारित्रमोहके उपशम या क्षयोपशमके अनुसार यद्यपि अपने२ गुणस्थानके अनुकूल विषयोंसे

जहांतक संभव हो शुद्ध आत्मामें ही श्रद्धा व ज्ञान सहित चर्या करे। यदि उपयोग वीर्यकी कमीसे, स्वात्मानुभवमें अधिक न ठहर सके तो उसे श्री पंचपरमेष्ठीकी भक्ति, स्वाध्याय, दान, धर्म गोष्ठी व परोपकारादि शुभोपयोगमें लगाकर अशुभसे रोके, तथापि शुभोपयोगको साक्षात् मोक्षका कारण न मानकर उसको परम्परासे मोक्षका कारण व साक्षात् पुण्यबंधका कारण जाने। तात्पर्य यह है कि निश्चयसे आत्माधीन रत्नत्रय ही ग्रहण करनेयोग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनिने एकत्वभावनादशकमें कहा है—

चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्ध्वा कथंचिच्चेच्चितनीया मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तत्र तत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—चेतनाके स्वभावमें एकता पाकर अनुभूतिका पाना यद्यपि दुर्लभ है तथापि यही मोक्षको देनेवाली है। इसे जिस तरह बने पाकर इसीका बारबार चिन्तवन करना चाहिये। साक्षात् मोक्ष ही सुखरूप है। मोक्षके चाहनेवालोंको उसहीका साधन करना चाहियें। संसारमें यहां वह सुख नहीं है—यदि कुछ सुख है तो वह मोक्षका सुख नहीं है।

इस तरह शुद्ध रत्नत्रयसे मोक्ष व अशुद्ध रत्नत्रयसे पुण्यबंध होता है ऐसा कहते हुए गाथा पूर्ण हुई।

पीठिका—इसके पीछे सूक्ष्म परसमयका व्याख्यान करनेकी पांच गाथाएं हैं। उनमें उसका सूत्ररूप कथन है फिर तीन गाथाओंमें गाथामें इसीका संकोच कथन निका है।

उत्तम गतिमें भाकर भी परंपराय अवश्य मुक्तिका भाजन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि, स्वसमय ही परम कल्याणकारी है-उसीका अभ्यास करना योग्य है।

श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्ततिमें कहते हैं—

वेऽभ्यस्यंति कथयंति विचारयंति।
संभावयंति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वं॥
ते मोहमल्लमथमूलमनंतसौख्यं।
शिघ्रं प्रयांति भवकेवललब्धिरूपं॥ ८०॥

भावार्थ-जो बारबार आत्मतत्त्वका अभ्यास करते हैं, उसीका कथन करते हैं, उसीका विचार करते हैं, तथा उसीका ध्यान करते हैं वे शीघ्र ही अनंतज्ञानादि नव केवललब्धिरूप महान व अनंत सुख रूप अविनाशी मोक्षपदको पहुंच जाते हैं।

उत्थानिका-आगे पहले सूत्रमें जो बात कही है कि जो तीर्थंकरादिकी भक्तिमें लीन है वह उसी भवसे मोक्षको नहीं पाता है, मात्र पुण्यबंध ही करता है। इसी ही अर्थको दृढ़ करते हैं—

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि॥१७२॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जो) जो (अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो) अरहंत, सिद्ध, अर्हंतप्रतिमा व जिनवाणीका भक्त होता हुआ (परेण) उत्तम प्रकारसे (तवोकम्मं) तपके आचरणको (कुणदि) करता है सो) वह (णियमेण) नियमसे (सुरलोगं) देवलोकको (समादियदि) प्राप्त करता है।